पी० पी० के मुक्ति आदि का संग्रह

शिवसहाय एवं सत्य इक शिवो

मूल्यानुवाद — आर्य

[illegible] विचार-धारा

लेखक

श्रीयुत बालकृष्ण बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०

[आँगन, मांगवा, विश्वकाव्य , धड़कन, अपने गीत और
मन के गीत आदि पुस्तकों के रचयिता]

मिलने का पता—
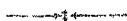
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

सं० २००५] प्रथमावृत्ति [मूल्य १॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआटोली, पटना
२. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
३. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कॉस्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

सब

के

लिये

सादर, सस्नेह
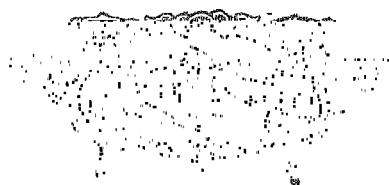
इस 'समाजवादी विचार-धारा' का अधिकांश सन् १६३८-३९ का सर्जन है। तब प्रसंग-वश कानपुर और कलकत्ते जाना और रहना पड़ा था।

कलकत्ते में जो कुछ देखा, वह ग़रीबी-अमीरी का चरमोत्कर्ष था। मेरे युवक मस्तिष्क पर वह जैसे खिंचकर रह गया।

तब पैसेवालों को—चोटी के पैसेवालों को—अति निकट से देखा। उनके भवन देखे, ऑफ़िस देखे; मिलें देखीं, व्यवसाय देखे, और देखे उनके अपने कर्मचारियों के प्रति पीस-पीस देनेवाले निर्देशन।

और जब इस भीतरी असलियत से मिलान किया उनकी दान-प्रणाली का, तो विजड़ित रह गया। अपने लाखों आश्रितों को ज़िंदगी की मचन-मतान से ऊपर तनिक भी न उठने देकर वे लाखों रुपए धर्म और देश पर न्योछावर कर रहे थे—ख़ूब शोहरत मचा-मचाकर।

वहीं, साथ ही, प्रतिदिन देखना पड़ता था ग़रीबी का विकृत, बीभत्स, गंदा रूप,—कलकत्ता से बिलकिया जाते।

और तब मन पर जैसा कुछ असर पड़ा और मस्तिष्क ने क्रियमाण होकर जो कुछ सुझाया, वही इन चित्रनों में संकलित है।

मस्तिष्क को इस भाँति क्रियमाण करने का बहुत कुछ श्रेय है, मेरे तब अधेड़, अब वृद्ध, पर सदैव युवकों के भी कान कतरनेवाले श्रीबालकृष्णजी मोहता को। उनकी इस देन को मैं कभी नहीं भूला।

और इन चिंतनों को पुस्तक का रूप देने की प्रेरणा हुई इसलिये कि आज दस साल बाद भी जो समस्याएँ इनका विषय हैं, वे वैसी ही बनी हुई हैं, और उनका इनसे अच्छा हल अभी और कोई दृष्टिगत नहीं।

एक अंतर अवश्य पड़ गया है। दस साल पहले जब ये चिंतन प्रकाशित होते थे, तो पाठक तनिक-बहुत चकचका उठते थे। आज शायद वे उतने नवीन, गरम और अस्वाभाविक न प्रतीत पड़ें, और समाज को देर-सबेर अपना विकास इन्हीं सदृश विचार-धाराओं पर कार्य कर करना पड़ेगा, इस परिणाम को भी अब शायद "गगन-विहारी" न कहा जाय।

१०—१२—१९३८ ई० } बालकृष्ण बलदुवा

क्रम

पृष्ठ

एक

सबके लिये

(आज दुनिया के जीवन में 'केवल अपने लिये' गुरु-मंत्र का काम कर रहा है, और परिणाम-स्वरूप उसके दुःख असह्य रूप से भारी हो उठे हैं।

'विशेषाधिकार' मानव-भाषा का सबसे प्रवंचक और राक्षसी शब्द है, जिसने मानव-जाति का कभी कल्याण नहीं किया। इसने ग़रीबों का ख़ून चूसा, और अमीरों का सत्यानाश किया।

आज की पीड़ित, घायल दुनिया को फिर से सरसब्ज़ करने के लिये जीवन का मूल-मंत्र बदलना होगा।

और वह मूल-मंत्र ही इस चिंतन का विषय है।)

आज मनुष्यों के जीवन में असंतोष, विद्वेष और पीड़ा की भरमार है, और राष्ट्रों के इतिहास में पशुता एवं विनाश का बोलबाला है।

ये सब पहले भी थे, परंतु आज की तरह कभी शांति, न्याय और मानव-हित-कामना के नाम पर निर्बाध गति से नग्न नृत्य नहीं कर पाए थे।

आज संस्कृति के नाम पर, राष्ट्र-रक्षा की ओट में, जिस प्रकार लघु राष्ट्रों एवं निःशक्त जातियों का राक्षसी सर्वनाश किया जा रहा है, वह सर्वनाश मानव-इतिहास में नई बात नहीं, परंतु नई बात है न्याय और सभ्यता के ठेकेदारों की

पूर्ण नपुंसकता और इससे भी बढ़कर नई बात है उस नपुंसकता को शांति-प्रियता का जामा पहनाने की निर्लज्जता।

आज ऊँचे-ऊँचे सिद्धांतों की आड़ ली जा रही है—अपनी कायरता छिपाने के लिये, अपने स्वार्थ बढ़ाने के लिये।

आज इसी प्रवृत्ति का परिचालन है कि दूसरे का सर्वनाश करने में मदद देकर भी अपना नुक़सान बचाना चाहिए, और अपने तनिक-से लाभ के लिये तो सारी दुनिया को भून डालने में भी न हिचकना चाहिए।

आज क्या राष्ट्र और क्या व्यक्ति—सभी इसी प्रवृत्ति से संचालित हैं। आज दुनिया के जीवन में 'केवल अपने लिये' गुरु-मंत्र का काम कर रहा है, और परिणाम-स्वरूप उसके दुःख असह्य रूप से भारी हो उठे हैं।

सभी अपने-अपने स्वार्थ-लाभ की चिंता में हैं।

यह बुरा नहीं, परंतु बुराई जो है, वह यह कि हमारी दृष्टि संकुचित हो उठी है, हम दूर तक नहीं सोचते। तात्कालिक फल-लाभ को ही अपना लक्ष्य मानकर उसके आगे के प्रत्यावर्तनों को—प्रभावों और परिणामों को—नहीं तोलते।

हम यह सोच लेते हैं कि सारी दुनिया में हम-ही-हम हैं, और दुनिया की सृष्टि हमारे स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही हुई है। मानो हमारे स्वार्थ से अधिक महत्त्व-पूर्ण वस्तु विश्व-भर में कोई है ही नहीं।

परिणाम जो होना चाहिए, वही हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति—

प्रत्येक राष्ट्र अपने ही को महेश्वर मानकर अपनी ही आकांक्षाओं की पूर्ति को—अपने ही स्वार्थों की प्राप्ति को—अपने जीवन का परमोत्कर्ष समझ बैठा है, और उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में बीच में आनेवाली सभी चीजों को नष्ट-विनष्ट करते नहीं हिचकता, फिर चाहे उन वस्तुओं में अधिकांश निरीह और निर्दोष ही क्यों न हों—ऐसी, जिन्होंने उसका अहित कभी न किया हो। इसी प्रवृत्ति का परिणाम दुनिया का रक्त-स्नान और पीड़ित चीत्कारें हैं।

क्योंकि सारी दुनिया न तो एक राष्ट्र ही है, न एक व्यक्ति ही। एक ही समय में अनेक राष्ट्र और करोड़ों व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ-लाभ के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। वे स्वार्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं, या ऐसे होते हैं, जिनकी पूर्ण प्राप्ति एक समय में सभी प्रयत्न-निरत नहीं कर सकते। 'केवल अपने ही लिये; सबके लिये नहीं' की भावना से परिचालित होने के कारण बाँटकर खाने का भाव पनपता नहीं। फल यह होता है कि अपने स्वार्थ-लाभ के लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की, और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की गरदन नापने और गला काटने में नहीं हिचकिचाते। शक्ति ही कसौटी बन जाती है। सशक्त अपने से निर्बल को रौंदकर स्वार्थ-लाभ करता है। रामदास श्यामू का गला दबाकर उससे अपना स्वार्थ-साधन करता है, तो भीमसिंह रामदास की गरदन नापकर अपना मतलब पूरा करता है। कोई अधिक सशक्त भीमसिंह

को भी रौंद डालता है। व्यक्तियों के सदृश ही राष्ट्रों का भी क़िस्सा होता है। जापान चीन को कुचलता है, और स्वयं रूस से पिचकता है। ब्रिटेन मलाया को जूते-तले दाबता है, और स्वयं रूस की ठोकरें खाता है। इस तरह कोई भी सुख और समृद्धि का अच्छी तरह उपभोग नहीं कर पाता।

'केवल अपने लिये' की भावना ने दुनिया को नरक बना दिया है। 'Live and Let Live' (रहें, और रहने दें) की सद्भावना क्रमशः कम होते-होते अब निर्मूल-सी हो गई है, और उसका स्थान ले लिया है संकुचित स्वार्थ-वृत्ति ने।

दूसरों का भी कोई महत्त्व है—यह ध्यान में न रहने से उचित-अनुचित का भी प्रतिबंध नहीं रहता। हम दूसरे से जैसा व्यवहार करेंगे, दूसरा भी हमसे वैसा ही व्यवहार करने का हक़ रक्खेगा—यह सीधी, सरल बात भी हम मान्य नहीं समझते। अनेक वर्ग अनेक अधिकारों को अपनी बपौती समझ बैठे हैं, और उन्हें अपना ईश्वर-प्रदत्त हक़ घोषित करते हैं। उन हक़ों को उन्होंने कैसे प्राप्त किया—न्याय से या अन्याय से, दूसरों का गला काटकर या दूसरों की भलाई करते हुए ?—इस प्रश्न का उत्तर देने की उन्हें जरूरत नहीं प्रतीत होती।

परंतु यह प्रश्न असंगत नहीं। यदि मानव-जाति को अपने खोए सुख और समृद्धि को प्राप्त करना है, तो उसे इस प्रश्न की विवेचना करनी ही पड़ेगी, और उस विवेचना के अनुसार

अपने में परिवर्तन—परिवर्धन भी करने ही पड़ेंगे, फिर भले ही ये सुधार उसके कुछ वर्गों के प्रतिकूल ही क्यों न पड़ते हों।

कोई बात हो गई, इसीलिये वह जायज़ नहीं हो सकती। उसे उचित या अनुचित, वैध या अवैध बनाता है—उसके घटित होने का तरीक़ा। वह किस तरह हुई? इस पर ही विचार करना पड़ता है। रामचरण सो रहा है। श्याम सिरहाने की खाने की गठरी लेकर चल देता है। कुछ दूर पर गठरी खोल-कर और एकआध रोटी खाकर, फिर गठरी बाँधकर अपने पास रखकर बैठ जाता है। तब यदि जगकर रामचरण आवे, और गठरी को अपनी कहकर उससे माँगे, तो क्या श्याम का यह कहना जायज़ हो सकता है कि चूँकि गठरी कुछ समय से उसके पास है; वह उसमें से खा भी चुका है, इसलिये रामचरण को उसे पुनः वापस माँगने का कोई हक़ नहीं? सभी कहेंगे, श्याम का यह कथन ठीक नहीं।

ठीक यही हाल विशेषाधिकारान्वित मानव-वर्गों का है।

कुछ वर्ग कुछ पीढ़ियों से कुछ अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं, इसीलिये अन्य वर्गों की उन हक़ों को पाने की माँग को नाजायज कहने का कोई औचित्य नहीं। देखना यह होगा कि उन्हें ये हक़ मिले कैसे?—यदि अनेक को विवश होकर या अनुचित परिस्थितियों से बाध्य होकर—अपने अधिकारों से हाथ धोना पड़ा है, तो कुछ लोगों द्वारा

उन अधिकारों का उपभोग उन्हें भोक्ता की संपत्ति नहीं बना सकता। जब ये अधिकार ही उनके पास नाजायज तरीक़े से आए हैं, तो जिनके वे जायज अधिकार हैं, उनका उन्हें चाहना गर्हित क्यों ? इस चाहना में अनौचित्य क्या ? कुछ आदमी उन अधिकारों का उपभोग कर अपने को सुख भोगने का अधिकारी समझें, और तब—जब अधिकांश आदमी उन अधिकारों के उपभोग से वंचित रहने के ही कारण सारी जिंदगी पीड़ा और अभाव में बिताएँ—इसे कौन उचित ठहरा सकता है ? "मेरी सुख-संपत्ति अक्षुण्ण रहे—उसमें तनिक भी घटती न होने पाए। इसके लिये मेरे सदृश सैकड़ों मनुष्य जानवर से भी गई-गुजरी जिंदगी व्यतीत करने को भले ही बाध्य रहें—" यह प्रवृत्ति मानवता की अति निकृष्ट श्रेणी में है—यह स्पष्ट है, और यह भी स्पष्ट है कि यह उसी 'केवल अपने लिये' की भावना का बीभत्स प्रदर्शन है।

जिनके पास अभाव है, उन्हें तो यह प्रवृत्ति दुःखदायी है ही, परंतु जिनके पास है, ऐसे विशेषाधिकारान्वित वर्ग को भी इससे सुख नहीं। सदैव कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में, कभी-न-कभी उनके विशेषाधिकार उनसे अधिक सशक्त अपहृत कर ही लेता है, और उन्हें जीवन की कटुता का, जिसमें अधिकांश मानवता आज अपने दिन गुजार रही है, तीक्ष्ण, पीड़ा-पूर्ण अनुभव करना ही पड़ता है।

इस प्रकार 'केवल अपने लिये' की भावना ने अधिकांश मानवता को नंगी, पीड़ित तथा बुभुक्षित बनाया, सो तो बनाया ही, परंतु अपने अनुयायी 'कुछ' को भी सुख न दे सकी। संपत्ति और साम्राज्य सदैव उनके अधिपतियों के लिये चिंता के विषय रहे; इधर-से-उधर हाथ बदलते फिरे। अपने लिये ईमान, नीति और न्याय को पैरों-तले रौंदवाकर भी ये किसी व्यक्ति या राष्ट्र के स्थायी अधिकार में कभी न रहे। हाँ, मृग-मरीचिका की झलकें दिखला-दिखलाकर उन्होंने मानवता को उसके ही पुत्रों द्वारा विदलित ज़रूर करवाया; भाई को भाई ही का सर्वनाश करने को कटिबद्ध अवश्य किया।

मेरे विचार में तो 'विशेषाधिकार' मानव-भाषा का सबसे प्रवंचक और राक्षसी शब्द है, जिसने मानव-जाति का कभी कल्याण नहीं किया। दुनिया के सारी लूट-मारामारी और रक्त-पात की जड़ में यही है। इसने गरीबों का खून चूसा, और अमीरों का सत्यानाश किया। इस 'केवल अपने लिये' की भावना के प्रतिनिधि-शब्द का शीघ्र-से-शीघ्र मानव-भाषा के पुरातत्त्व-विभाग में चला जाना ही समस्त संसार के लिये हितकर है।

आज की पीड़ित, घायल दुनिया को फिर से सरसब्ज़ करने के लिये मानव-प्रवृत्ति में संपूर्ण परिवर्तन करना होगा। 'केवल अपने लिये' की जगह 'सबके लिये' को जीवन का मूल-मंत्र बनाना होगा।

तब 'सबके लिये' में 'अपने लिये' भी आ जायगा। सबके कल्याण में अपना कल्याण भी हो जायगा।

तब—एक दूसरे की गरदन नापते हुए भी सभी की उचित कांक्षाएँ पूरी हो जायँगी, और मानवता घृणित रक्त-स्नान से मुक्त हो प्रेम-परिप्लावित हो सकेगी।

रुपया—उसका भविष्य

(मनुष्य के लिये ज़िंदगी में दो ही चीज़ों की क़ीमत है—सुख की और सम्मान की। आज की दुनिया में ये दोनो ही चीज़ें रुपए की पिछलग्गू हैं। इसीलिये ईश्वर का स्थान रुपए ने ले लिया है, और धनिकशाही का ही सभी क्षेत्रों में बोलबाला है।

परंतु आराम और इज़्ज़त बहुत समय तक कुछ वर्गों की ही संपत्ति नहीं रह सकते, न कुछ वर्ग बहुत समय तक दूसरे वर्गों को उससे वंचित ही रख सकते हैं।

इतिहास इसके समर्थन में है, और एक युग निकट भविष्य में—सुदूर भविष्य में नहीं—आएगा, जब रुपया रहेगा, पर सबका साथी बनकर—ईश्वर बनकर नहीं।)

मुकुट एक बीस-बाईस वर्ष का युवक है—सुंदर, सुशील और नए प्रगतिशील विचारों का हामी। कभी उनके अनुसार कार्य करने को भी तत्पर था।

उसके मा है, बाप है, दादी है, भाई है और बहनें—एक नहीं, कई।

कभी मा-बाप-दादी पुराने होते हुए भी उसके नए विचारों के विरोधी न थे। मन में नए विचारों को नापसंद करते हुए भी मुकुट की राह में अड़ते न थे। शायद उस समय उन्हें नए रास्ते में ही अपना कल्याण दीखता था—क्योंकि वे ग़रीब थे,

और पुराने रास्ते में चलने पर उनके लड़के को बहू नहीं मिलती थी, शायद बहनों का विवाह करने में भी सामर्थ्य से अधिक रुपया चाहिए था। धनी रिश्तेदार पूछते न थे। चिप-कते रहने पर भी आँखें फेरे रहते थे।

हो सकता है, मुकुट को भी परिस्थितियों की विवशता ने ही नए रास्ते पर ढकेल दिया हो। कलकत्ते-सदृश शहर में, मारवाड़ी-समाज में, मध्यम श्रेणी के ७-८ प्राणियों का ४०)-५०) मासिक में निर्वाह कर लेना सरल नहीं—शादी और मौत के खर्चे सँभालने की तो दूर रही। इसे सरल करने के ही लिये, कौन कह सकता है, मुकुट को नए बनने के रास्ते पर चलने की न सूझी हो?

और ठीक भी था। बुद्धिमान् पूर्वजों का अनुकरण करने के लिये हज़ारों ही रुपया चाहिए—क्या विवाह में, क्या मौत में और क्या आए दिनों के रीति-रिवाजों में। तब तो पुराने रास्ते में ससम्मान चला जा सकता है, नहीं तो नाक कटते देर नहीं लगती। जो क़र्ज़ न लेना चाहे, या जिसे क़र्ज़ न मिले, वह क्या करे? उसे तो नया बनने में ही अपनी मुक्ति दिखाई देती है।

ठीक-ठीक कौन कहे कि मुकुट के ऐसे विचार थे या नहीं? अवसर आए बिना तो परीक्षा होती नहीं। अनेक इसी भाँति के सुधारकों के जीवन में ऐसे अवसर आते भी नहीं, पर मुकुट के जीवन में ऐसा अवसर आ गया। और, तब आया,

जब वह उसकी आशा छोड़ बैठा था। नहीं तो शायद नए रास्ते पर इतना आगे न बढ़ता।

पर आगे तो वह बढ़ ही चुका था। एक उग्र सुधारक की कन्या से विवाह करने को तत्पर हो गया। विवाह में कन्या का बिना परदा रहना भी स्वीकार कर लिया। मा-बाप-दादी सभी ने स्वीकृति दे दी। केवल स्वीकृति ही नहीं दी, कन्या-पक्ष से आग्रह कर सगाई पक्की होने के रीति-रिवाज भी करा लिए। स्वयं वर महोदय अपनी बहूरानी को भी देख आए। पसंद भी कर आए।

उस समय मुकुट के एक शुभचिंतक ने कहा भी कि सगाई न करो, केवल बात-भर रहने दो। पर नहीं, सगाई तो पक्की होना ही चाहिए। कहीं आई बहू हाथ से न निकल जाय!

और तब सहसा परीक्षा का अवसर आ गया। मुकुट अनायास ही ग़रीब से धनी हो गया। जिसने वर्षों कोठरी में दिन या रात कभी चिराग़ न जलाया, और अपने हाथ पकाकर न खाया, कभी किसी रिश्तेदार के घर, कभी किसी के—ऐसी एक बुढ़िया का इकट्ठा किया हुआ धन उसे मिल गया।

और तब वे सब रिश्तेदार मुकुट के चाचा-ताऊ बन बैठे, जिन्होंने उसकी ग़रीबी में उसकी कठिनाइयों को बढ़ाने से सदैव आँखें चुराईं।

मा-बाप-दादी का पलटना तो आश्चर्य नहीं, वे तो पुराने थे ही। पर उससे भी अधिक परिवर्तन हुआ नए मुकुट में।

ग़रीबी के हितचिंतकों से अधिक मान हो गया उन चाचा-ताउओं का, जो पहले उसे पूछते तक न थे, और जिनके विचारों की अवहेलना कर वह सगाई पक्की कर चुका था। तब वे विवाह में शामिल होंगे या नहीं, इसकी भी परवा न की थी। पर अब तो वे उसके चाचा-ताऊ थे। उनकी बात वह कैसे न माने?

इसी भाँति जिस लड़की को वह एक दफ़ा नहीं, कई बार देख चुका था, और स्वयं उसके हाथ-पैर की, गहनों के लिये, नाप ले चुका था, वह भी कम जँचने लगी। मा का तो बिचकना स्वाभाविक था। बहू उसके ही सामने कपड़े बदल-कर लड़की से लड़का बनते न हिचके! नए मुकुट की पुरानी मा को अब यह कैसे रुचे? अब तो वह धनी थी। अब बहू बनाने के लिये लड़कियों की कौन कमी थी?

और नए मुकुट का शिक्षा तथा सुंदरता का स्तर ऊँचा उठ गया था।

पर यह भी तो हिचकती बात थी कि नए मुकुट को नए रास्तेवाले पुराना समझें। क्यों न नए की सहृदयता को वह अपनी विवशता दिखाकर क़ब्ज़े में करे? रिश्तेदार धमकी देते हैं। मा-बाप-दादी भी उनके ही साथ रहने को कहती हैं। केवल सिद्धांत के अतिरिक्त और कोई ऐसी प्रेरणा भी नहीं,

जिससे वह पुराने रास्ते के विरुद्ध जाकर विपत्ति में पड़े। सगाई तो पक्की हो-होकर भी छूटती ही रहती हैं! बात का मूल्य ही क्या?

उसके एक मित्र ने उसके विचारों का समर्थन किया। मुकुट उसकी सलाह पर असीमित श्रद्धा रखता था।

पर वही कठिनाई इस मित्र के सामने थी। वह मुकुट से भी अधिक 'पक्का न था' बनता था। उसने यह कहना प्रारंभ किया कि मुकुट के इस कार्य को वह तो बहुत बुरा समझता है, पर क्या करे? मुकुट को वह सलाह-भर ही दे सकता है।

दोनों में से किसी की भी यह हिम्मत न पड़ी कि स्पष्ट रूप से कह देता कि यह सब परिवर्तन रुपए की बदौलत है, और अभी अधिक रुपया पुराने रास्ते पर चलने से ही मिलना संभव है। धनी बाप की लड़की के साथ हज़ारों का दहेज मिले, तो नया रास्ता छोड़कर पुराना रास्ता धरने में क्या हर्ज है!

मुकुट ने अच्छा किया या बुरा?—यह भी प्रश्न है। पर मेरे सामने यह नहीं, इससे भी गुरुतर प्रश्न है—ऐसा क्यों हुआ?

सीधा-सादा उत्तर है—रुपए की बदौलत।

पर रुपए को इतनी ताक़त मिली कैसे? उसमें इतनी शक्ति आई कहाँ से कि आदमी उसे ही अपना देवता मानने को

बाध्य होता है; समस्त मानवोचित गुणों का बुरी तरह बलिदान कर भी इस देवता को प्रसन्न करना चाहता है ?

इसका उत्तर सरल भी नहीं; रुचिकर भी नहीं।

मैं मुकुट को दोष दूँ, तो कैसे ? वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में रुपए को ही सब सुखों का माप-दंड बना दिया गया है। मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी करने का एकमात्र साधन वही है। उसके अभाव में साधारण आराम भी उपलब्ध नहीं। उसके लिये आकर्षण होना मानवीय दुर्बलता क्यों समझी जाय ?

मनुष्य के लिये ज़िंदगी में दो ही चीज़ों की क़ीमत है—आराम की—सुख और सम्मान की—इज्ज़त की। आज की दुनिया में ये दोनो ही चीज़ें रुपए की पिछलग्गू हैं। जिसके पास जितना अधिक रुपया है, वह उतना ही अधिक सम्मान और सुख को अपने क़ब्ज़े में पाता है।

इतना ही नहीं। वर्तमान में रुपया सब ऐबों को ढँकने की भी अतुलनीय ताक़त रखता है। धनी के लिये वे सब बातें तथा कार्य क्षम्य हैं—समाज के धनी-धोरियों के लिये अन-देखी करने का विषय हैं, जो ग़रीब के लिये अक्षम्य हैं—समाज के ठेकेदारों द्वारा बहिष्कृत करने का विषय हैं।

अतएव, आज की दुनिया में ईश्वर का स्थान रुपए ने ले लिया है। धर्म, सदाचार, न्याय, मानवता आदि ईश्वर की ही आराधना के साधन हैं, जिनके द्वारा विश्व-नियंता तक पहुँचा

जाता है। बहुत दिनों से उन सबका रुपया-भगवान् के कृपा-पात्र बनने की होड़ करना अनिवार्य ही-सा बन गया है।

बात अप्रामाणिक-सी दीख सकती है, पर है नहीं। आज के समाज के सभी क्षेत्रों के अधिकांश अग्रगण्य नेताओं और कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत दैनिक जीवन के संसर्ग में आने पर यह सत्य सूर्य-सदृश प्रज्वलित रूप में सामने आ जाता है कि वर्तमान व्यवस्था में रुपया और रुपएवाले की इतनी प्रबल सत्ता है कि इन सभी को उनके सामने सिर झुकाना पड़ता है।

स्मरण रहे—मैं अधिकांश के लिये कह रहा हूँ, सबके लिये नहीं। यह अधिकांश ९०% क्या ९५% तक हो सकता है, और बाक़ी के ५% के दैनिक जीवन में रुपए के सामने सिर न नवाने से जो कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें देखते हुए यही विचार होता है कि साधारण दृढ़ता को तो उन विपत्तियों में टूक-टूक होते देर लग ही नहीं सकती।

सोचिए! एक ऐसा व्यक्ति है, जिसका पथ सार्वजनिक जीवन में जय-जयकार से निनादित रहता है, और जिसके पास क्या धनी और क्या ग़रीब, क्या शासक और क्या शासित—सभी सलाह लेने आते हैं, और इस डर से डरते हैं कि उसके विरुद्ध बोलने से उनकी मनचाही होने में कठिनाई पड़ सकती है। ऐसे व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन में पैसे के अभाव में खाने के भी लाले पड़ते हैं, और

अपने बच्चों का मन एक-एक पैसे के लिये तोड़ना पड़ता है, और यह सब इसीलिये कि वह स्थानीय धनिकों के इशारे पर अन्य सहकारी नेताओं तथा कार्यकर्ताओं के सदृश नाचते हुए ऊपर से ऊँचे-ऊँचे सिद्धांतों की डींगें हाँकना नहीं पसंद करता साथ ही उसके सम्मुख दूसरा पहलू यह भी है कि जरा-सा ढील दे देने से ही उसकी ये सब कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं, और वह मजे में आराम से अपने बच्चों की किलकारियों में कार्य-क्षेत्र के श्रम की थकन मिटाकर आह्लादित हो सकता है।

ऐसे समय—साधारण दृढ़ता क्या करेगी ? यह समझते हुए भी कि वह अनुचित कर रहा है, रक्त-मांस की पुकार समस्त जीवन अनसुनी करना सरल नहीं। फिर तब—जब चारों तरफ यह भी नज़ारा हो कि जो इस पुकार को सुन रहे हैं, उनका सम्मान उससे किसी क़दर कम नहीं।

परिस्थिति ऐसी ही है। अभी धनिकशाही का ही सभी क्षेत्रों में बोलबाला है—कुछ में प्रत्यक्षतः ; अधिकांश में अप्रत्यक्षतः।

परंतु परिस्थिति ऐसी ही रहेगी नहीं, क्योंकि यह अप्राकृतिक है, और प्रकृति से सर्वोपरि शक्ति कोई नहीं। मनुष्य भी प्रकृति के अनुकूल ही चलकर विज्ञान द्वारा अधिकाधिक शक्ति संचित करता है।

और प्रकृति का यह नियम है कि सभी मानवों में आराम और इज्ज़त पाने की अदम्य लालसा एक-सी रहे। आराम

और इज्ज़त बहुत समय तक कुछ वर्गों की ही संपत्ति नहीं रह सकते; न कुछ वर्ग बहुत समय तक दूसरे वर्गों को उसे वंचित ही रख सकते हैं।

और इतिहास भी मेरी इस बात का समर्थन करेगा कि आराम और इज्ज़त पानेवालों का वर्ग क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

मध्य-कालीन सदियों में जो आराम और इज्ज़त केवल राजा-महाराजाओं और उनके सरदारों तथा मुँहलगों का अधिकार समझा जाता था, वह अब उनका एकाधिकार में नहीं रहा। व्यापारी-वर्ग भी अब उन सभी आरामों और इज्ज़तों का उपभोग करता है, जिनको पाने के लिये उस पर मध्य-युग में पग-पग पर प्रतिबंध थे, और जिनका उपभोग किसी को करने देना या न करने देना उस समय के शासक-वर्ग अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते थे।

बीसवीं सदी में यह दायरा और भी विस्तृत हो रहा है। यह नहीं कि अभी मनुष्य मनुष्य की गुलामी नहीं करता, परंतु यह है कि अब यह गुलामी किसी का जन्मजात बंधन और किसी का क़ानूनी अधिकार रही नहीं। यह पहला आराम है, जो दास-वर्ग को मिला, और जिसके मिलने से किसान तथा मजदूर-वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व क़ायम हुआ।

परंतु अभी भी यह भावना नहीं गई कि किसान और मजदूर तथा अन्य नौकर-पेशा मनुष्य धनिक तथा शासक-वर्ग से हीन हैं।

गई भले ही नहीं, परंतु भविष्य में इसे जाना पड़ेगा। वैसे ही, जैसे दासता चली गई, हीनता भी चली जायगी।

अभी यह बात दूर की कथा असंभव-सी दिखाई पड़ती है, क्योंकि जिसे क़ानून कहा जाता है, उसमें आराम और इज़्ज़त देनेवाली संपत्ति व्यक्तिगत अधिकार में रक्खी गई है, और उसकी जड़ें पाताल तक धँसी समझी जाती हैं।

परंतु क़ानून परिवर्तनशील हैं, और कभी-कभी तो इतनी शीघ्रता से बदलते हैं कि बदलने के पहले इतने उग्र परिवर्तन हो जाने की घड़ियाँ आ गईं—इसकी संभावना मस्तिष्क में रहती ही नहीं।

ऐसा ही एक क्षण निकट भविष्य में—सुदूर भविष्य में नहीं—आएगा, और तब रुपया भी ईश्वर के सिंहासन पर से स्वतः लुढ़क पड़ेगा।

यह नहीं कि वह रहेगा नहीं। रहेगा, पर सबका साथी होकर, स्वामी होकर नहीं, क्योंकि वह कुछ के एकाधिकार में न रहेगा। सबकी समान रूप से संपत्ति बन वह सबको आराम और इज़्ज़त सुलभ कर देगा।

यह नहीं कि धनी न रहेंगे, पर कोई निर्धन भी न रहेगा। सभी धनी होंगे; सभी संपत्तिशाली होंगे।

हावड़ा का पुल

(रुपया सबके आराम के लिये बना था। आज यदि उसके कारण दुनिया में कष्ट बढ़ रहे हैं, तो अवश्य ही उसका दुरुपयोग किया गया है।

क्या ? कैसे ?—यह हावड़ा का पुल बताएगा।)

हावड़ा का पुल—

नीचे भागीरथी की लहरें हहर-हहरकर भागती जा रही हैं। ऊपर आदमियों का चिउँटी-दल बेतहाशा दौड़ता जा रहा है। जीवन की अनाप-शनाप आँधड़ गति में किसी को पल-भर—रुकने का, ठहरने का, ठिठकने का—सोचने का अवसर नहीं।

दोनों ओर पुल की पहाड़ियों पर, जहाँ से पैदल आना-जाना है, कुछ बच्चे, कुछ जवान और कुछ अधेड़ बैठे-खड़े हैं। उनके पास साबुन है, बिस्कुट है, चने के पैकेट हैं, और हैं ऐसी ही अन्य सस्ती चीजें। किसी के पास चार आने का सामान है, तो किसी के पास आठ आने का। रुपए-दो रुपए से ज्यादा का सामान शायद ही किसी के पास हो।

और, पुल के बीच मोटरें दौड़ी जा रही हैं, गाड़ियाँ लुढ़की जा रही हैं, रिक्शा भागे जा रहे हैं। उनमें भी कुछ बच्चे,

कुछ जवान और कुछ अधेड़ बैठे हैं। इनके बदन पर साफ-सुथरे, कीमती कपड़े हैं। चेहरे पर ठसक है। रुपया-दो रुपया तो पान-पत्ते में ही उड़ा देते हैं।

मैं दोनो को देखता हूँ—मोटरवालों को भी और पटरी-वालों को भी, और तब सहसा अपने से ही पूछ बैठता हूँ—इतना अंतर क्यों? क्यों एक मोटर पर सवार है, और दो-चार रुपए हँसी-खेल में, जब चाहे, तब मिनटों में, उड़ा देता है, और क्यों एक घंटा पुल की पटरी पर खड़ा-खड़ा दो-चार रुपयों को अपना जीवन-सर्वस्व समझ एक-एक पैसा बटोरने में लगा हुआ है?

दोनो के एक-से आँख-कान, नाक-मुँह हैं। दोनो को एक-सी ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है। दोनो में ही रूप-कुरूप हैं, योग्य-अयोग्य हैं।

तब किस बात ने दोनो में इतना अंतर कर दिया है? क्यों भाई-भाई में ही एक गुलाम से भी बदतर और एक देवता से भी बेहतर बन बैठा है।

उत्तर स्पष्ट है, और वह है—रुपया। एक धनाधीश है; दूसरा—पैसे-पैसे को तरसता है।

पर यह रुपया—यह पैसा—है क्या चीज़?

यह तो राज्य द्वारा प्रचारित एक सिक्का—एक माप-भर है, जिसके सहारे जीवन में आवश्यक चीज़ों के आदान-प्रदान में सुबीता हो। आप एक मन गेहूँ देने को गाड़ी पर लादकर

लाएँ, और उसे कपड़ेवाले के यहाँ तौलाकर उसके बदले में दस गज कपड़ा ले जायँ, और वह कपड़ेवाला उस मन-भर गेहूँ को तेली-परचूनी को देकर उसके बदले में तेल-घी, चावल-दाल वग़ैरा ले, तो प्रतिबार तौल-नाप-भाव करने में कितनी असुविधा और देर होगी। इसे बचाने को ही राज्य ने रुपए का माप निकाला। आप गेहूँ गाड़ी पर लादकर ले जाने के कष्ट से बचे। कपड़ेवाला गेहूँ तेली-परचूनी के पास ले जाने की तकलीफ़ से बचा। दोनों ने सिक्के में—रुपए में—मोल चुका दिया।

इससे स्पष्ट है कि रुपया सबके आराम के लिये बना था, सबको अधिकाधिक तकलीफ़ पहुँचाने के लिये नहीं। आज यदि उसके कारण दुनिया में कष्ट बढ़ रहे हैं, तो अवश्य ही उसका दुरुपयोग किया गया है।

और—उसका दुरुपयोग किया भी गया है।

वह आदान-प्रदान का साधन न रहकर स्वयं में ध्येय बन गया है। आज रुपया इस नज़र से नहीं देखा जाता कि इससे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ एक दूसरे के पास सरलता से पहुँच जायँगी। आज तो वह इस नज़र से देखा जाता है कि जितना ज्यादा रुपया तुम इकट्ठा कर सकोगे, उतने ही ज़्यादा मज़े उड़ा सकोगे। वे मज़े तुम अपने भाई की छाती पर पैर रखकर पाते हो, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

और इसी का परिणाम हावड़ा के पुल पर दिखाई पड़ता है!

और हावड़ा के पुल पर ही क्या, आज तो मानवता का अधिकांश भाग इसी दुरुपयोग के कारण संत्रस्त है।

इस दुरुपयोग को ठीक करना ही पड़ेगा।

पुर पर

(यदि इन नेताओं को गाँवों में नजरबंद कर दिया जाय, और इनकी ज़बान पर लग जाय प्रकृति की दफ़ा १४४, जिससे ये अपने विषैले विचार न फैला सकें, तो ये देख पाएँगे—अनुभव कर पाएँगे कि हिंदू-मुसलमान दो नहीं; आदमी-आदमी दो नहीं। सबकी एक-सी ज़रूरतें हैं, एक-से सुख-दुख हैं। पुर का यही उपदेश है। उसमें दुराव नहीं।)

शहर में—हिंदू हैं, मुसलमान हैं, और हैं इनके नेता, जो इनमें मेल-जोल न बढ़ाकर झगड़ा बढ़ाते हैं।

आज, इस गाँव में, अपने सामने, पुर में बैल नधते हुए देखकर सोच रहा हूँ—

यदि इन नेताओं को गाँवों में नज़रबंद कर दिया जाय, और इनकी ज़बान पर लग जाय प्रकृति की दफ़ा १४४, जिससे ये अपने विषैले विचार न फैला सकें।

तो ये देख पाएँगे—अनुभव कर पाएँगे कि हिंदू-मुसलमान के अलग-अलग अधिकार नहीं। सबकी एक-सी ज़रूरतें हैं, एक-से सुख-दुःख हैं।

इस पुर का पानी सभी खेतों में जा सकता है, और उन्हें एक-सा ही सींच भी सकता है। इसमें दुराव नहीं।

और पानी में ही क्या—प्रकृति और ईश्वर की किसी भी देन में दुराव नहीं—भेद-भाव नहीं। वह सबके लिये एक समान सुलभ है।

उसे दुर्लभ किया है, तो स्वयं आदमी ने। आदमी ने आदमी का—भाई ने भाई का—आराम छीना और उस आराम को अपने जीवन और रक्त-मांस के लिये सदैव सुलभ रखने की मृग-तृष्णा में उसने दूसरों को उनसे दूर रखने की राक्षसी योजनाओं के आविष्कार किए!

कहीं उन्हें धर्म का रूप दिया गया—छुआ-छूत का, ऊँच-नीच का वर्ण-भेद कर कहीं इन्हें साम्राज्य का रूप दिया गया—शासक-शासित, गोरा-काला का रंग-भेद कर और कहीं उसे धन का रूप दिया गया—व्यापारी-ज़मींदार, किसान-मज़दूर के बीच गहरी खाईं खोदकर।

आज सहस्रों वर्ष बाद सभ्यता विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकी है। और, इस चरमोत्कर्ष में हुआ है यह कि आज सबसे कम मनुष्यों को अधिक-से-अधिक सुख उपलब्ध हैं—आलीशान महलों, मोटरों, हवाई जहाजों के रूप में, और सबसे ज्यादा मनुष्यों को सबसे अधिक यंत्रणाएँ सहनी पड़ रही हैं—बेकारी, भूख और गुलामी के रूप में।

मेरे भाई! तुम हिंदू नहीं हो; मुसलमान नहीं हो, अँगरेज़ भी नहीं हो।

तुम जब तक ये बने हुए हो, तभी तक तो तुम्हारी आप-दाओं का अंत नहीं है।

तुम सबसे पहले आदमी बनो—आदमी ! सबको अपने-सा ही प्राणी समझो, और जो आराम अपने लिये चाहो, वह सबके लिये चाहो—सुलभ करो।

ऐसा करने पर देखोगे—न कोई हिंदू है, न कोई मुसल-मान; न कोई काला है, न कोई गोरा, न कोई शासक है, न कोई शासित, न कोई धनवान् है, न कोई ग़रीब।

तब—अल्पमत-बहुमत के नाम पर संघर्ष न होगा, धर्म-जाति के नाम पर गले न कटेंगे, और न वाणिज्य-व्यवसाय के नाम पर अपने ही भाइयों का ख़ून चूसा जायगा।

तब—सबके आराम के लिये योजनाएँ बनेंगी, और सभी उन्हें सफल करने की कोशिश करेंगे।

मशीनरी काम करेगी, पर कुछ का घर नहीं भरेगी। सब समान रूप से उनसे बनी चीज़ों का उपभोग करेंगे।

शासन चलेगा, पर शासक अपने को शासितों का सेवक समझेंगे—उनसे अकड़-अकड़कर दूर-दूर नहीं भागेंगे, और शासित भी उन्हें ज़मीन तक झुक-झुककर सलामें करने की जगह उन्हें सबको सुख पहुँचानेवाले भाई समझ उनको तन-मन से प्यार करेंगे।

आज, इस गाँव में, अपने सामने, पुर में बैल बहते हुए देखकर ये सब विचार उठ रहे हैं।

इस पुर का पानी सभी खेतों में जा सकता है, और उन्हें एक-सा ही सींच भी सकता है।

काश ! वर्तमान मानवता के ये झगड़े बढ़ानेवाले नेता भी यहाँ—गाँव में—आते, और यह सब अनुभव करते।

किसके बूते ?

(ज़रूरत नई योजनाओं की नहीं है। ज़रूरत नए रास्ते सोचने की नहीं है। ज़रूरत है, तो यह कि उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के साधन उपलब्ध किए जायँ, उन रास्तों पर चलने का पाथेय जुटे।

यह कैसे हो ? इसी का रास्ता सोचना है।)

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जड़ता और अंधकार ने इतने पक्के पैर जमा लिए हैं कि जिधर भी आँख उठाइए, आपको लिखने योग्य मसाला मिल ही जायगा। समाज का एक भी अंग ऐसा नहीं, जो दूषित होने से बचा हो। बालक, वृद्ध, युवा, युवती, स्त्री-पुरुष—सभी के जीवन कृत्रिम और अप्राकृतिक; अस्वस्थ और दुखी। धनी, निर्धन, किसान, मज़दूर, व्यापारी, ज़मींदार, नौकर, नेता—सभी उद्देश्य-हीन, आदर्श-हीन, पैसे के गुलाम—मालिक नहीं। धर्म, समाज, राजनीति, व्यापार—सभी के व्यवहार पाखंड-पूर्ण, सचाई से दूर, अनेक के दुःख और पतन पर कुछ को वैभव की ओर बढ़ानेवाले।

ये सब विषमताएँ हैं, जो बीसवीं सदी की मानव-जाति में तो जैसी कुछ हैं, हैं ही, परंतु भारतीय समाज को तो पूर्ण-

तय: तहस-नहस कर रही हैं। इनमें से प्रत्येक पर एक अग्र-लेख तो क्या, अनेक अग्र-लेख लिखे जा सकते हैं, लिखे गए हैं, और लिखे जायँगे भी। परंतु जब मैं लिखनेवाले से हटकर पढ़नेवाले पर दृष्टि डालता हूँ, तो एक प्रश्न विकट रूप से उठ खड़ा होता है—यह सब किसके लिये ?

क्योंकि पढ़नेवाले लिखनेवालों से कहीं अधिक कटु अनुभव रखते हैं, दिन-रात उसी चक्की के दोनो पाटों के बीच में निर्दय गति से पीसे जाते हैं। ये समाज की हानिकर व्यवस्था से और जीवन की कटु-पशुता-पूर्ण, अप्राकृतिक, विनाश की-ओर शनैः-शनैः बढ़ती विषमताओं से अपरिचित नहीं, बल्कि पूर्ण परिचित हैं। वे सो नहीं रहे हैं कि उन्हें जगाने के लिये अग्र-लेखों की ज़रूरत हो। वे जग रहे हैं, किंतु जागते हुए भी सो रहे हैं। जागरण में, पतन के ज्ञान में, जो वेदना—जो टीस उठती है, उसकी तुलना में, पतन दूर करने के साधनों के अभाव में, सुषुप्ति ही प्रिय प्रतीत पड़ने लगती है।

और आज यही बात है। 'तुम बुरे हो', 'तुम्हारे में यह बुराई है'—कह देने-मात्र से बुराई दूर नहीं हो सकती। बुराई मौजूद है, जिसमें बुराई है, वह भी उसे बुराई समझता है। पर सवाल तो है—"उसे कैसे दूर किया जावे ?" का नहीं, वरंच कैसे दूर किया जावे का साधन जुटाने का। और, यह साधन उपदेश-मात्र से नहीं जुटता।

उदाहरणार्थ—

"साफ़-सुथरे रहो। बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा दो, जिससे समाज का स्वास्थ्य सुधरे, ज्ञान बढ़े। ज्ञान-युक्त नई पीढ़ी में कुरीतियाँ स्वयं ही हट जाएँगी।"

ठीक! लेकिन साफ़-सुथरे रहने के लिये और बच्चों को शिक्षा देने के लिये पैसा चाहिए। आज की सामाजिक व्यवस्था में बिना पैसे के शिक्षा संभव नहीं, सफ़ाई संभव नहीं। वह पैसा पढ़नेवाले के पास इकट्ठा नहीं, आता भी नहीं। वह अपने को सुधारना चाहते हुए भी कैसे सुधारे?

यह प्रश्नों का प्रश्न है—समस्याओं की समस्या है। साधन के अभाव में सुधार हो कैसे? यह कह देने में कोई तथ्य नहीं कि करनेवाले के लिये कुछ असंभव नहीं। वास्तविक जीवन में आए दिन दिखाई पड़ता है कि यह केवल 'आदर्श-वाक्य'-भर है। जी जान से जुटकर प्रयत्न करने पर भी करनेवाला साधन नहीं जुटा पाता। जिनके पास साधन एकत्रित हो अप्रयुक्त पड़े रहते हैं, वे उसका लाभ अपने भाई को नहीं होने देते।

तब—

जरूरत नई योजनाओं की नहीं है। जरूरत नए रास्ते सोचने की नहीं है। बहुत योजनाएँ और रास्ते जानकारी में हैं।

जरूरत है, तो यह कि उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के साधन उपलब्ध किए जायँ, उन रास्तों पर चलने का पाथेय जुटे।

यह कैसे हो, इसी का रास्ता सोचना है; उसी का उपाय निकालना है।

फिर तो सारी विषमताएँ—सारी समस्याएँ अपने आप हल हो जायँगी।

पूर्वजों का अनुकरण

(हम धर्म के शरीर को सजाए रहते हैं, और उसकी आत्मा को मरने देते हैं। फल-स्वरूप धर्म का शृंगार करने में अपनी विपुल—शक्ति व्यय कर भी हमें धर्म की प्राण-शक्ति का—जीवन-शक्ति का लाभ नहीं मिलता।

हम अपने पूर्वजों का अनुकरण क्यों नहीं करते ? हमें हीनता का पाठ क्यों पढ़ाया जा रहा है ? अरे ! हमें तो यह कहकर उन्नति की ओर बढ़ना चाहिए कि हमारे पूर्वज अत्यंत बुद्धिमान् थे; हम उन्हीं की संतान हैं; उनका बुद्धि-बल हम में न होगा, तो होगा और किस में ? हम अपने समय के संसार को मार्ग दिखाएँगे,......भले ही तब हमारा मार्ग पूर्वजों के मार्ग से विभिन्न ही क्यों न दिखे !)

रेल में छूत-छात पर तर्क-वितर्क करते हुए मैंने कहा कि धर्म के बाह्य स्वरूप में ही हम इतने फँस गए हैं कि उसके आंतरिक उद्देश्य को विस्मृत कर बैठे हैं, और परिणाम-स्वरूप धर्म से प्राप्त होनेवाले लाभ से तो वंचित रह गए हैं, और बंधनों से जकड़ गए हैं। अपने शरीर को धार्मिक चिह्न और क्रियाओं से बाँधने की अपेक्षा अपने मन और मस्तिष्क को धर्म के सार्वभौमिक सिद्धांतों में रँगने की चेष्टा करना अधिक लाभकर है।

और, अपनी इस बात को मैं यों खुलासा करता हूँ।

श्यामदास एक चालीस वर्ष का प्रौढ़ व्यक्ति है। पूर्ण धर्मिष्ठ है। सुबह-शाम संध्या करता है, गीता पढ़ता है। पाँच माला राम-नाम की प्रतिदिन जपता है। रामानंदी तिलक लगाता है। गले में तुलसी की माला रखता है। किसी का छुआ खाता नहीं! कुएँ के पानी से बना भोजन ही ग्रहण करता है, और वह भी मंदिर में देव-दर्शन कर आने के बाद। रेल में पानी तक नहीं पीता। विप्रों पर पूर्ण श्रद्धा रखता है; मालूम-भर हो जाए कि अमुक व्यक्ति द्विज देव हैं, और भक्ति-भाव से नमस्कार कर लेता है। शूद्रों की छाया पड़ जाने पर स्नान किए बिना अपने को पवित्र नहीं मानता। कहने का मतलब यह कि सब भाँति धर्म के बाह्य-स्वरूप पर सफलता-पूर्वक चलता है।

परंतु उसका लेन-देन का और आढ़त का काम है। दिन में दसों बार एक-एक पैसा ज्यादा पा लेने के लिये झूठ बोलता है। खूब ज्यादा ब्याज लेकर रुपया बाँटता है, और सबसे पूरा-पूरा वसूल करता है। अभी परसों ही रामदेव व्यास पर अपने रुपयों के लिये कुड़की ले गया था, और उसकी चौदह वर्षीया लड़की का चाँदी का गहना तक न छोड़ा। बेचारा ब्राह्मण कहता ही रह गया—"पत्नी की सख्त बीमारी के कारण वह उसके रुपए न चुका सका; अब वह अच्छी हो गई है, अपने २५) रु० मासिक वेतन में से पाँच-पाँच रुपए दे-देकर वह ऋण-मुक्त हो जायगा; कुल सौ तो रुपए ही हैं।"

परंतु, श्यामदास को न माना, क्योंकि दो साल में रामदेव व्यास ब्याज भी न चुका सका था। श्यामदास यह तो जानता था कि ब्राह्मण सच्चा है, और दो साल से निरंतर विपत्ति में पड़े रहने के कारण ही नहीं चुका सका है। पर, तब—वह कब तक ठहरे! उसे तो रुपया चाहिए ही। किसी की विपत्ति का खात्मा ही न होता हो, तो वह क्या करे! उसे इस समय रुपए की जरूरत है, क्योंकि पत्नी, लड़की के लिये गहना बनवाने का हठ कर रही है, और तीज के व्रत का उद्यापन करनेवाली है।

और, यों खुलासा करने के बाद मेरे विचार में तो श्यामदास ने धर्म का बाह्य स्वरूप पालन किया, पर धर्म के लक्ष्य की विस्मृति कर बैठा। धर्म अपने में सद्गुणों की वृद्धि कर विश्वात्मा में अपनी आत्मा तल्लीन कर देने का मार्ग है—यह भाव उसके मन में एक बार भी न उठा। धर्म सत्य बोलना, दया करना आदि मानव-गुणों का विकासक है—यह उसने कभी न सोचा।

और, इसका कारण?

कारण यही कि हमें तोते की भाँति धर्माचरण करना सिखाया जाता है। हम गीता-गायत्री-पाठ करते हैं; संध्या के मंत्र जपते हैं; राम-नाम भजते हैं—इस विश्वास से कि पाठ, जप या भजन की क्रिया ही में मुक्ति भरी पड़ी है। गीता में जो आदेश हैं, उन पर चलने की या गायत्री, संध्यादि-

मंत्रों के अर्थ समझकर उनके अनुसार आचरण करने की या राम-कृष्णादि के कार्य-कलापों का अनुकरण करने की चेष्टा ही हमारी उन्नति करेगी—हमारी मुक्ति करेगी, यह सोचने की तकलीफ़ हम नहीं उठाते, और इसीलिये परिणाम यह हुआ है कि हम धर्म के शरीर को तो सजाए रहते हैं, और उसकी आत्मा को मरने देते हैं। फल-स्वरूप धर्म का शृंगार करने में अपनी विपुल शक्ति क्षय कर भी हमें धर्म की प्राण-शक्ति—जीवन-शक्ति का लाभ नहीं मिलता।

हम अपने पूर्वजों का अनुकरण क्यों नहीं करते? उनके गुण-गान गाने में ही अपने कर्तव्य की इति-श्री क्यों समझ लेते हैं। हम कब समझेंगे कि हमारे पूर्वजों ने कभी किसी का अंध अनुकरण नहीं किया? उन्होंने अपने अग्रजों के उपदेश ग्रहण किए, स्वयं उन पर चिंतन किया, और मतभेद प्रतीत पड़ने पर स्पष्टतया उसकी घोषणा करते हुए स्वयं को सत्य अनुभूत सिद्धांत के प्रचार और परिपालन में अपने को लगा दिया। हमारे महर्षियों ने ऐसा ही किया। हमारे महान् पुरुषों ने ऐसा ही किया।

हमसे क्यों कहा जाता है कि हम अपने महर्षियों के उपदेशों को, बिना चिंतन किए, सत्य मान लें? हमारे महर्षि कभी अपने जीवन में इस भाँति नहीं चले। उन्होंने सदैव अंतर्ज्योति जगाई, और उसी के प्रकाश में स्वयं भी चमके, और जगत् को भी जगमग किया। दूसरों का चिराग़ लेकर वे

कभी भी अपना मार्ग ढूँढ़ने नहीं निकले। स्वयं अपना प्रदीप जलाया, और अपना मार्ग देखा-दिखाया।

आज उन्हीं के वंशजों को यह कहा जा रहा है कि तुम धर्म को चिंतन से बाहर की वस्तु समझो, और जो मार्ग तुम्हारे पूर्वज दिखा गए हैं, उस पर आँख मूँदकर चलो; तनिक भी इधर-उधर न हिलो।

आज हमें हीनता का पाठ क्यों पढ़ाया जा रहा है? क्यों यह कहकर हमें अधोमुख किया जा रहा है कि तुम्हारे पूर्वज अत्यंत श्रेष्ठ थे; तुम उन्हीं के दिखाए मार्ग पर चलो, क्योंकि तुम्हारी बुद्धि उनकी बुद्धि तक नहीं पहुँच सकती?

अरे! हमें तो यह कहकर उन्नति की ओर बढ़ना चाहिए कि हमारे पूर्वज अत्यंत बुद्धिमान् थे; उन्होंने अपने समय के विश्व को ज्ञान और शक्ति का मार्ग दिखाया, हम उन्हीं की संतान हैं; उनका बुद्धि-बल हम में न होगा, तो होगा और किसमें? हम अपने समय के संसार को मार्ग दिखाएँगे—उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे।

धर्म वही है, जो धारण किया जाए। युग-युग के साथ—परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन के साथ—धर्म की धारणा-शक्ति बदलती रहती है, परंतु उसका लक्ष्य सदैव एक रहता है। वह लक्ष्य है—आत्मकल्याण—विश्व-कल्याण के मार्ग से।

आज के युग में जिन कार्यों से विश्व-कल्याण करते हुए

आत्मकल्याण हो सके, उनको धारण करना ही 'धर्म' है। उन कार्य-कलापों को पूर्वजों द्वारा दिए गए ज्ञान-लोक से अपनी अंतर्ज्योति जगा, उसी के प्रकाश में ढूँढ़ना, और कार्यान्वित करना ही पूर्वजों का सच्चा अनुकरण करना है, भले ही तब हमारा मार्ग पूर्वजों के मार्ग से विभिन्न ही क्यों न दिखे !

नारी-सुख के राहु-केतु

(आज नारी-जागरण ज़ोरों पर है, परंतु आधुनिक नारी में कोई उन्नति-सूचक परिवर्तन नहीं हुआ। नवीन स्त्रियाँ भी उसी भाँति पुरुष के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, जिस प्रकार पुरानी। अंतर केवल नाच की प्रणाली का हो गया है।

और, इसका कारण है—नारी में सजने की भावना। इसी के लिये उसे पुरुष की ग़ुलामी करनी पड़ती है।

यदि स्त्री पुरुष की सहयोगिनी बनना चाहती है—वास्तविक सहयोगिनी, दिखावे-मात्र की नहीं, तो उसे अपने को गुड़ियों की भाँति, पुरुष के बूते पर, सजाने के विलास-व्यसन को निर्मम बनाकर तिलांजलि देनी पड़ेगी।

नारी-स्वतंत्रता के लिये यह नितांत आवश्यक है।)

आज पूर्व में नारी-नर के समकक्ष होने में प्रयत्नशील है, और पश्चिम में हो भी गई है—ऐसा भी समझने लगी है। स्वयं पुरुष भी उन्हें बढ़ावा दे रहे हैं। फिर भी अभी मुझे तो निकट भविष्य में नारी-पुरुष के समकक्ष हो सके—ऐसी कोई आशा नहीं दीखती। समकक्ष होना तो दूर रहा—सहकारी हो जाय, तो ग़नीमत है!

और—इसका कारण भी बता दूँ ?

कारण है, नारी की—आधुनिक नारी की भी—पुरुष पर

निर्भरता। स्वयं इस श्रेणी के पुरुष-सुधारक भी नारी की इस आश्रितावस्था को घटाने के स्थान में बढ़ाने में दत्तचित्त रहते हैं।

गंभीरता से विचारिए, तो पुरातन-प्रिय और आधुनिक स्त्री में कोई मौलिक उन्नति-सूचक परिवर्तन नहीं हुआ है। जो कुछ भी परिवर्तन हुआ है, वह बाहरी—वेश-भूषा, रहन-सहन आदि का। यह भी इसलिये कि आधुनिक पुरुष ये परिवर्तन उसमें देखना चाहता था।

यही एक बात दिखलाती है कि नवीन स्त्रियाँ भी उसी भाँति पुरुष के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, जिस प्रकार कि पुरानी। अंतर केवल नाच की प्रणाली का हो गया है। हमारे पूर्वज औरत को परदे और अंतःपुर में नचाना पसंद करते थे। सुधारक को उन्हें परदे के बाहर सार्वजनीन नाच नचाना पसंद है।

और, यह सब इसलिये कि अभी भी नारी-वर्ग स्वावलंबी नहीं—आत्म-निर्भर नहीं। ज़िंदा रहने के लिये उसे पुरुष-वर्ग का मुँह ताकना पड़े—ऐसी बात नहीं, परंतु अभी क्या पुरानी, और क्या नई—सभी नारियों ने कुछ प्रवृत्तियों को अपने जीवन का अभेद्य अंग समझ रक्खा है, और वे प्रवृत्तियाँ ही उसे पुरुष का आश्रित बना देती हैं।

उन प्रवृत्तियों में सबसे घातक प्रवृत्ति है—सजने की। स्त्री की क़ीमत का स्टैंडर्ड पुरुष ने बहुत पुरातन काल से नियत

कर रक्खा है और वह है—सुंदरता,—उपयोगिता नहीं। स्त्री भी अपनी कीमत इसी से आँकने में अभ्यस्त हो गई है—यह उसकी मानसिक गुलामी का अकाट्य प्रमाण है, और यह प्रमाण आधुनिक नारी पर भी समान-रूप से लागू है।

'समान-रूप से' कहना तो बात को दबाना ही है। आधुनिक नारी में सजने की यह भावना पुरातन नारी-से नहीं, अधिक जोरदार है—वास्तविकता तो यह है।

और, इसीलिये आधुनिक नारियाँ पुरुषों की अधिक मुहताज हैं।

उन्हें पुरुष के समकक्ष बनने की अभिलाषा को तिलांजलि दे देना चाहिए, यदि वे अपनी सजने की भावना को निर्बाध रखना चाहती हों। परंतु, यदि वे पुरुष की सहयोगिनी बनना चाहती हैं—वास्तविक सहयोगिनी—दिखावे-मात्र की नहीं, तो उन्हें अपने को गुड़ियों की भाँति, पुरुष के बूते पर, सजाने के विलास-व्यसन को निर्मम बनकर त्याग देना चाहिए।

गहना और कीमती पोशाकें पाने के लिये ही तो उन्हें पुरुष की गुलामी करनी पड़ती है। यदि आज नारी अपनी आभूषण-प्रियता त्याग दे, तो वह पुरुष की आँख-से-आँख मिलाकर—निडर होकर अपनी समकक्षिता की घोषणा कर सकती है।

क्योंकि और सब बातों में पुरुष स्त्री का मुँह जोहता है।

पुरुष के सुख-शांति की सुव्यवस्था नारी द्वारा ही होती है। स्वयं पुरुष अपने आप में अक्षम है। उसने नारी को स्वर्ण-शृंखला से बाँध रक्खा है, तो इसीलिये कि वह उसके पीछे-पीछे घसिटती रहकर उसे सुख-शांति में व्याघात पहुँचने के भय से विमुक्त रक्खे।

यदि नारी पुरुष के समकक्ष होना चाहती है, तो उसे स्वर्ण-पिंजर छोड़ना ही पड़ेगा। तभी वह सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव कर सकेगी।

नारी-स्वतंत्रता के लिये यह अनिवार्य है कि स्त्री गहने तथा क़ीमती पोशाक पहनकर इठलाने में अपनी इज़्ज़त समझना छोड़ दे। युगों की उस प्रवृत्ति को हटाने के लिये वह सीधा-सादा रास्ता ग्रहण करे, और वह है यह निश्चय कर लेना कि वह गहना और क़ीमती पोशाकें अपनी ही कमाई से बनवावेगी। यदि वह स्वयं अर्थोपार्जन नहीं कर सकती, तो पुरुष की आश्रिता न बनकर रहने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि वह गहनों तथा क़ीमती कपड़ों का मोह छोड़ दे।

गहनों और पोशाकों की माँग मिट जाने पर नारी को जीवन-यापन करना इतना सरल दीखने लगेगा कि अब तक गहने के लिये पुरुष की मानसिक तथा आर्थिक ग़ुलामी करने-वाली अपनी समझ पर स्वयं उसे ही आश्चर्य होने लगेगा।

इतना ही नहीं। इस प्रवृत्ति के हटते ही वह निर्बल से

सशक्त हो उठेगी। पुरुष ने सुकुमारता को स्त्री-सौंदर्य का अनिवार्य उपादान रक्खा, परंतु सौंदर्य का सुकुमारता आवश्यक अंग नहीं। यदि होती, तो पुरुष-जाति से बढ़कर कुरूप वस्तु संसार-भर में और कोई न होती।

और सशक्त होने पर नारी की समस्त विपत्ति टल जायगी। वह पुरुष की संपत्ति नहीं रहेगी। कोई उस पर जबर्दस्ती, उसकी इच्छा के विपरीत आधिपत्य नहीं कर सकेगा। उसके समस्त त्रास—समस्त संकट—टल जाएँगे।

तब सशक्त नर और सशक्त नारी फिर से आदर्श दांपत्य की स्थापना करेंगे, और करेंगे विश्व को सुख और शांति की कल्याणी-धारा से परिप्लावित।

आभूषण और क़ीमती पोशाक सुखी दांपत्य जीवन के सबसे बड़े शत्रु हैं। नारी के सुख-सौभाग्य के लिये राहु और केतु, जो युगों से उसे ग्रसे हुए हैं।

यदि नारी सुख चाहती है—सुख की मृग-तृष्णा नहीं, तो उसे इन दोनो राहु-केतु से अपने को मुक्त करना ही होगा।

संतान

(एक पिता या माता की हैसियत से संतान के ऊपर क्या हम सचमुच अहसान करते हैं ?

क्या संतान का माता-पिता के प्रति सचमुच कोई कर्तव्य है ?)

अक्सर माता-पिता के मुँह से संतान के प्रति सुना जाता है—"हमने तो अपना कर्तव्य कर दिया। पाल-पोसकर बड़ा किया। लिखा-पढ़ाकर होशियार किया। विवाह कर घर बसा दिया। अब हमारे प्रति अपना कर्तव्य वे जानें।"

जब-जब मैं ऐसे कथन सुनता हूँ, तो मन में असंतोष उठता है, और साथ ही एक नवीन भावना का भी उदय होता है। एक पिता या माता की हैसियत से संतान के ऊपर क्या हम सचमुच अहसान करते हैं ? क्या उन पर हम जो मेहनत और खर्च करते हैं, उसका बदला वे तुरंत चुकाते नहीं जाते ? और अगर नहीं भी चुकाते हैं, तो क्या उनसे माता-पिता को किसी प्रत्युपकार की आशा करनी चाहिए ?

एक पिता की हैसियत से मैंने अनुभव किया है कि संतान पर हर अवस्था में हम जितना खर्च करते हैं, या उनके लिये जो कुछ भी असुविधाएँ उठाते हैं, उसका प्रतिदान हमें संतान तुरत दे देते हैं। वे अपनी बाल-क्रीड़ा, तोतली बोली तथा

किलकारी से हमें जिस प्रसन्न-भावना से ओत-प्रोत कर देते हैं, वह हमें हमारा व्यय तथा परिश्रम विस्मृत कराकर सुख की लहर में डुबो देता है, और अनेक अँधियारी तथा चिंतित घड़ियों में जीवन की उदासी में सरसता ला देता है। संतान पर, बड़े होने पर, अपना अहसान लादना हमारी पूरी स्वार्थपरता ही है।

और, संतान के बड़े होने पर हम जो कुछ शिक्षा में व्यय करते हैं या विवाह-शादी में खर्च करते हैं, वह जिन विचारों से प्रेरित होकर करते हैं, उनका यदि विश्लेषण करें, तो पाएँगे कि हम मुख्यतया: अपनी मनःतुष्टि के विचारों से ही प्रेरित होकर ये सब कार्य करते हैं। इन क्षेत्रों में हम अक्सर ऐसे भी कार्य कर जाते हैं, जो संतान के लिये लाभकर न होकर हानिकर ही होते हैं, पर हममें प्रसन्नता की लहर दौड़ा देते हैं। विवाह-शादियाँ तो अक्सर इसी विचार से कर दी जाती हैं कि हम अपनी जिंदगी में संतान के विवाह का भी सुख देख लें, चाहे उससे संतान का भविष्य अँधियारा ही क्यों न हो जाय।

इस विचार-धारा से तो यह स्पष्ट दीखता है कि संतान के लिये जो कुछ भी हम करते हैं, अपनी संतुष्टि के लिये, और उसका हमें संतान तुरत प्रतिफल भी दे देते हैं।

तब, संतान की माता-पिता के प्रति कर्तव्य की पुकार क्या है? क्या सचमुच कोई ऐसा कर्तव्य है? या यह भी स्वार्थों की रक्षा के लिये उन्हें धर्म का रूप दे देने के अनेक उदाहरणों में से केवल एक है?

क्षमा

(क्षमा माँगना बहुत सरल है। और—क्षमा करना ?)

दीपमालिका के उत्सव पर आदान-प्रदान किए जानेवाले पत्रों के आधुनिक रूप में एक रिवाज क्षमा माँगने का भी चल पड़ता-सा दिखाई दे रहा है। पत्र-प्रेषक पत्र-प्रेषित से अपने ज्ञात या अज्ञात अपराधों के लिये क्षमा-प्रार्थी होता है।

क्षमा माँगना बहुत सरल है। आजकल के ऊपरी सभ्याडंबर में तो बहुत ही कृत्रिम भी है। सभी प्रकार का, कम या अधिक हानियों का, जान-बूझकर शिकार बनानेवाले भी, सिकंजे में कसे जाने पर मन में और हानि पहुँचाने का इरादा करते हुए भी, क्षमा माँगने को स्वयं को हानि से बचाने का एक अच्छा उपाय समझते हैं।

क्षमा माँगने में जो आध्यात्मिक परिष्कार की अनुभूति रहती थी, वह तो अब रही नहीं। हमने किसी को ज्ञात या अज्ञात में अपने किसी कार्य द्वारा हानि पहुँचा दी, जिसका ज्ञान होने पर हृदय में अपने उस कार्य के अनौचित्य के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई; जिसे हानि पहुँचा, उसके प्रति समवेदना का भाव जाग्रत हुआ; अंतःकरण में कुछ कचोटन हुई, और अपने मन के अनमनेपन तथा अपराध-भाव को शांत करने के लिये

उससे जिसे हानि पहुँची, उससे क्षमा माँगकर उसके घायल दिल पर मलहम लगाना अपना कर्तव्य है—ऐसी अनुभूति की। इतनी मानसिक क्रियाओं के बाद जो क्षमा-प्रार्थना होती है, वही लाभकर है!

आजकल की क्षमा में ये सब कहाँ? आधुनिक क्षमा-प्रार्थना तो दो ही कारणों से होती है—केवल-मात्र शिष्टाचार-प्रदर्शनार्थ या फिर बाध्य होकर—सिकंजे में कसे जाने पर, प्रायश्चित्त-भाव येन-केन-प्रकारेण अपने-आपको विपदा से बचाने के लिये।

इसीलिये आज क्षमा-प्रार्थना क्षमा-प्रार्थी को उदात्त बनाने का—ऊपर की ओर ले जाने का—साधन नहीं। विनम्रता की सृजन करनेवाली भी नहीं।

आज क्षमा माँगना बहुत ही सरल हो गया है, कृत्रिम हो गया है, और हो गया है महत्त्व-हीन—सार-हीन।

और क्षमा करना!

क्षमा करना उतना ही कठिन हो गया है, और हो गया है इसीलिये महत्त्व-पूर्ण, सार-मय।

आज क्षमा माँगने की जरूरत नहीं; क्षमा करने की जरूरत है। दूसरों से अपने अपराध की क्षमा न माँगकर उनके अपने प्रति किए गए अपराधों की क्षमा करने की आवश्यकता है।

आज जिस संकीर्णता और क्षुद्रता की मनोमालिन्य-वर्धक प्रकृति के अभिभूत होकर मानव-जीवन में कलह, अशांति

और पीड़ा की दिन-रात उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, वह संकीर्णता और क्षुद्रता क्षमा न करने की आदत का परिणाम है। आज जिस अनुदारता और स्वार्थीपन के दो पाटों के बीच मानव पीसे जा रहे हैं—बर्बाद किए जा रहे हैं, वह क्षमा न करने की प्रकृति का तात्कालिक फल है।

आज हृदय में सहज उदारता नहीं; स्वाभाविक सरलता नहीं, जब कि दुनिया खूब कटीली हो गई है। काँटे मन में चुभ जाते हैं, और खटकते हैं। हममें उन्हें चुटकी से पकड़कर निमिष-मात्र में निकाल फेंकने का साहस नहीं—प्रवृत्ति भी नहीं। हम दूसरों से तो कहते हैं—मन शूल-हीन करने को, और स्वयं अपने मन में उनकी जड़ों में मट्ठा देते रहते हैं।

हम दूसरों से क्षमा माँग लेने को तो सदैव तत्पर रहते हैं, परंतु स्वयं क्षमा करने को नहीं। उसमें सम्मान, आत्मगौरव, वीरता आदि की भ्रांत भावनाएँ—विकृत रूप—न-जाने कहाँ से आ खड़े होते हैं, जिनका क्षमा माँगने के समय पता भी नहीं रहता।

हम क्षमा-क्षमा चिल्लाते हैं, पर अपने लिये, दूसरों के लिये नहीं। और यही हमारे पतन का द्योतक है।

क्षमा माँगना कायरता है। यदि किसी को हमारे कार्य से दुःख पहुँचा हो—हानि पहुँची हो, तो उसका समुचित निराकरण हो है उसकी क्षति-पूर्ति। उसे न कर, क्षति-पूर्ति करने

में होनेवाली असुविधाओं से बचने के लिये, क्षमा माँगने का मार्ग ग्रहण करना कायरता ही है—वीरता नहीं।

वीरता तो है—क्षमा करने में, अपनी हानि करनेवाले को उदारता-पूर्वक क्षमा करने में—उससे बदला न लेने में, बदला लेने की शक्ति रखते हुए भी। अशक्त के क्षमा करने का भी कोई अर्थ नहीं।

सशक्त के क्षमा करने की भावना मानव-कल्याणकारी है, और है कलहहारी। हममें बल हो, ताक़त हो, और तब हम अपने से निर्बल के अपराधों को क्षमा कर दें, तभी क्षमा करने का कोई अर्थ है।

आज यदि इस प्रकार की सशक्त क्षमा करने की प्रवृत्ति हो जाए, तो दुनिया के संघर्षण—ऊँच-नीच, ग़रीब-अमीर आदि के पारस्परिक विरोध—बहुत दूर तक कम हो जाएँ। तब आज की एक-दूसरे की नाशक शक्तियाँ एक-दूसरे की पोषक शक्तियाँ बन जाएँ।

आज से निश्चय कीजिए—

क्षमा माँगने का नहीं, क्षमा करने का।

तेरह दाने

(ठेठ दिहात ! सोए भी कोई कहाँ तक ? दुपहरी ख़तम ही नहीं होती । इधर-उधर नज़र दौड़ी । एक दराज़ में गेहूँ के कई दाने अड़े थे । और तब दिमाग में सहसा बिजली-सी कौंध गई ।

दरिया और दानों-सा ही इस दुनिया का और हम आदमियों का भी क़िस्सा है ।

'तेरह दाने' में इसी क़िस्से की व्याख्या है ।)

ठेठ दिहात ! खा-पीकर सोना ही काम था । पर सोए भी कोई कहाँ तक ? दुपहरी खतम ही नहीं होती; सुरसा की तरह बढ़ती ही जाती है । करवट ले-लेकर उबासियाँ भर-भर-कर सोया, पर सोने की भी तो कोई हद है ? दुपहरिया खतम होने का नाम ही नहीं लेती । जेठ की धूप आँख सामने उठने ही नहीं देती । काम कोई है ही नहीं ।

जब बहुत ऊबा, तो उठा । पास ही तख्त पड़ा था उस पर जा बैठा । इधर-उधर नजर दौड़ी । एक कोने में एक खुरपी पड़ी थी । एक दराज में गेहूँ के कई दाने अड़े थे ।

खुरपी उठा ली । दराज में अड़े दाने निकालने लगा । कई दाने ऊपर उचका-उचकाकर निकाल लिए । कई दाने खुरपी डालकर दराज चौड़ी करने पर नीचे फ़र्श पर गिर पड़े । उन्हें बीन-बीनकर तख्त पर रक्खा । फिर गिना—तेरह दाने निकले ।

तेरह दाने निकले। गिनाई के बाद छँटाई शुरू की। एक दाना सबसे डबल था, पर बहुत पककर लाल हो गया था। एक दाना तेरहों में सबसे दुबला-पतला था। दोनों को छाँटकर अलग रक्खा। शेष ग्यारह दाने चलसाऊ थे—जैसे एक कुनबे के ग्यारह प्राणी। कोई थोड़ा ज़्यादा मोटा, तो कोई थोड़ा ज़्यादा दुबला। कोई औरों से थोड़ा ज़्यादा सफ़ेद या चिकना भी।

हाँ तो, दोनों मोटे-दुबले दानों की एक क़तार बनाई। शेष ग्यारह दानों की एक। फिर उस एक की तीन बनाईं—पाँच, चार, दो की। एक ही पटिया पर; ज़रा-ज़रा दूर से।

कुछ देर देखा किया। फिर खुरपी उठा ली। दुबले दाने पर बीचोंबीच रख दी। ज़रा-सा ज़ोर दिया। खट्ट की आवाज़ हुई। दूसरे ही क्षण दुबला दाना दो टूक हो चुका था। एक टुकड़ा उत्तर की ओर जाकर खड़ा हो गया। एक टुकड़ा दक्खिन-पूरब की ओर जाकर पट पड़ गया।

फिर मोटे दाने पर खुरपी जमी। खट्ट हुआ—बहुत ज़ोर से। आँख झँप-सी गई। स्थिर होने पर देखा कि पटिया पर बहुत दूर दक्खिन-पच्छिम में मोटे दाने का अधिकांश भाग चित पड़ा है। बाक़ी के हिस्से का पता न था। वह पटिया से नीचे गिर गया था।

अब ग्यारह की बारी आई। एक खुरपी की फाट में पड़ा। आधा हिस्सा गायब। आधा वहीं पट पड़ा। पास ही में खुरपी की उत्तरीय पटिया पर।

इधर-उधर नज़र दौड़ाई, तो इसी कटाई का यह परिणाम भी देखा कि दुबले दाने का उत्तरीय हिस्सा चित हो गया था, और घायल मोटा दाना आड़ा।

फिर एक दाने पर खुरपी पड़ी। दाना पच्छिम की ओर दौड़ा और थम गया। उसका कोई हिस्सा बटा नहीं था। वह छिल-भर गया था।

पाँचवीं बार खट्ट हुआ, और आधा हिस्सा वहीं पट हो गया। आधा दक्खिन की ओर खिसककर खड़ा हो गया।

एक बार फिर खटाका किया, और अब की बार एक हिस्सा तो पटिया से बाहर—नज़र से गायब और दूसरा हिस्सा उसी दराज़ में जा पड़ा, जिसमें से मैंने ये तेरहों दाने निकाले थे।

बाक़ी के सातों दाने अछूते ही रह गए, पर अपरिवर्तित नहीं। श्रेणी-बद्ध न रहकर अब वे एक दूसरे से भिड़े पड़े थे, मानो भेड़ों ने भेड़िया देख पाया हो।

मैंने खुरपी तख़्त पर के एक छोर पर रख दी थी, और देख रहा था कि तेरह दानों को मैंने जिस शकल में सजाया था, उससे बिलकुल ही विभिन्न रूप इन दानों और टुकड़ों का हो गया था।

इस रूप को देखकर पहले की शकल का अनुमान भी नहीं हो सकता था।

और तब दिमाग़ में सहसा बिजली-सी कौंध गई।

पटिया और दानों-सा ही इस दुनिया का और हम आदमियों का भी क़िस्सा है।

तब उठा। कमीज की जेब से पेंसिल छुटाई, कापी निकाली, और लिखने लगा।

डर तो लगा कि पास ही सोया लल्ला उठकर इसे अधूरा ही न रखा दे। दिमाग़ की कौंधन-भर नोट कर लूँ। फिर फ़ुरसत में उसे सजा लिया जायगा।

एक नजर डाली। बच्चा निःशंक सो रहा था। टटकी चीज़ टटकी ही रहती है। उसका-सा स्वाद बनाई चीज में कहाँ ?

यह सोच लिखता चला गया, और लिखता चला गया, तो तेरह दानों का यह हाल पूरा भी हो गया।

पर दुनिया में समाज और व्यक्ति का जो संबंध है, वह प्रश्न हल न हो सका। क्या समाजवाद ही दुनिना के दुःख और कष्टों को अंत करने का एकमात्र उपाय है ?

विजय-दिवस

(ज़बर्दस्ती दिवालियाँ जलाओ—दुगुने - चौगुने दाम देकर। खुशी मनाओ, नाचो-गाओ ! —चाहे मन रो ही क्यों न रहा हो, क्योंकि आज तुम्हारे आक़ा खुश हैं, और अगर वे खुश हैं, तो सारी दुनिया को खुश होना चाहिए। किसी को भी रंज मनाने का हक़ नहीं।

आज 'विजय-दिवस' है। आ-हा-हा-हा !)

आज 'विजय-दिवस' है, और सरकार बहादुर के अधिकारियों का आदेश है कि 'विजय-दिवस' सबको मनाना चाहिए।

कैसी विचित्र बात है ! 'विजय-दिवस'—ख़ुशी और गौरव का दिन—मनवाने के लिये भी आदेश की जरूरत है।

पर वह ख़ुशी और गौरव का दिन हो, तब न ! कम-से-कम हमारे लिये तो नहीं। जिनके लिये है, वे स्वत: ही मनाएँगे। उन्हें किसी के आदेश की आवश्यकता नहीं।

योरप में लड़ाई समाप्त हो गई। जर्मनी हार गया; ब्रिटेन जीत गया; अमेरिका की बाँछें खिल उठीं; रूस का बदला चुक गया। ब्रिटेन, अमेरिका और रूस-निवासियों के लिये सचमुच 'विजय-दिवस' है। वहाँ का एक-एक निवासी आज

गौरवान्वित है; खुशी से फूला नहीं समाता। उसका डर मिटा;—उसके मनसूबे पूरे हुए।

पर हमारे कौन डर मिट गए? हमारे कौन मनसूबे पूरे हो गए? हम खुशी से नाचें—ऐसा क्या कुछ हुआ? नहीं। हमारी मानसिक, शारीरिक और आर्थिक पराधीनता में तिल-भर भी कमी नहीं हुई। (कुछ बढ़ती न हो, तो अहोभाग्य!) हम अपने ही घर में क़ैद हैं। हमारी धन-दौलत हमारे ही सामने लुट रही है। हमारी इज्जत—हमारा आत्मगौरव हमारे ही भाइयों द्वारा रौंदवाया जा रहा है। और, इस पर तुर्रा यह कि 'विजय-दिवस' मनाओ—खुशी की दियासलियाँ जलाओ!

कैसी विचित्र बात है! खुशी के नाम पर जबरन् दियासलियाँ दी जा रही हैं—एक-एक के तीन-तीन दाम वसूल करते हुए; उनके द्वारा, जो हमारी रक्षा के लिये हैं; हमें चोर-डाकुओं से बचाने के लिये हैं।

पहले जमाने में विजयी होने पर राजा-महाराजा अपने खजाने में से धन-दौलत प्रजा में बाँटकर अपनी खुशी में उसे साझी करते थे। एक जमाना आज का है, जब 'मियाँ की जूती और मियाँ का सर' हो रहा है। लागत से कई गुने दामों पर जबरन् हमें दियासलियाँ देकर कहा जा रहा है कि खुशी मनाओ; आज सरकार बहादुर जीती है। खुशी मनवाने के पहले ही हमें रंज से भरा जा रहा है।

सरकार बहादुर जीती है ! क्या इसीलिये कि एक-एक के तीन-तीन हमसे वसूल करे; अपने खज़ाने से एक पैसा भी न निकाले ?

पर यह शिकायत किससे ? यह क्यों हो रहा है ? इसके लिये दायित्व किसका है ? हमारा ही न ! दुनिया वीरों की है; वीरों के लिये है। हम कायर और असमर्थ इसकी शिकायत करते हैं कि हमारे साथ न्याय नहीं होता; हम भी मानवता की शिष्टता के हक़दार हैं। त्याग और तपस्या से मुँह मोड़कर भी हम चाहते हैं कि दुनिया हमारी उतनी ही क़द्र करे, जितनी उनका, जिन्होंने अपना सर्वस्व होम कर भी अपनी आन-बान-शान न जाने दी। हम चाहते हैं कि एक अँगरेज़ या एक रूसी के समान हमारी क़द्र हो। यह नहीं हो सकता। यह प्रकृति के नियमों के विपरीत है। वीर और कायर एक-से नहीं हो सकते।

हम लड़ाई की विभीषिका से तो ज़रूर बच गए, पर अब हम शांति की विभीषिका से नहीं बच सकते। हमारे आक़ाओं ने लड़ाई की मुसीबतें झेलीं; अपने घरों के खँडहर बनाकर भी हथियार नहीं डाले, तो अब अगर वे फिर से खँडहरों में वैभव-भवन उठाना चाहेंगे, तो इसमें अनुचित ही क्या है ? महलों के लिये ईंट-गारा तो हमारे यहाँ से ज़रूर दी जायगा। कायरों की—ग़ुलामों की—धन-संपत्ति उनकी कब होती है ? वह तो वीरों की—उनके प्रभुओं की है।

हम दोनो हाथ लड्डू नहीं रख सकते। कायर वीरों-सा सम्मान और संपत्ति पा सकें—रख सकें—यह हो नहीं सकता। 'विजय-दिवस' तो वीर ही मनाएँगे। उनके गुलाम तो उनके सामने नाचेंगे-गाएँगे। ख़ुशी और गौरव की भावना वे लाएँगे ही कहाँ से? इस नाचने-गाने को ही वे अपना 'विजय-दिवस' मनाना समझें, तो उनकी समझ की बलिहारी! इसमें और पराजय-दिवस में अंतर ही क्या है?

आज 'विजय-दिवस' है जरूर, पर विजेताओं के लिये—स्वाधीनता-स्वतंत्रता पर सर्वस्व वार देनेवालों के लिये। हम हिंदुस्तानियों के लिये नहीं, जिन्होंने फ़ौजें बनाईं, सो अपना पेट भरने के लिये; अपने आक़ाओं के हुक्मों पर लड़ने के लिये। हिंदुस्तानी फ़ौजें हिंदुस्तान के लिये नहीं लड़ीं; उन्होंने उसकी आजादी के लिये मैदान नहीं मारे। यह हमारे लिये प्रकृति का सबसे बड़ा व्यंग्य है—अगर हम समझें, तो।

आज 'विजय-दिवस' है, और जरूर है, पर शासकों के लिये; शासितों के लिये नहीं। हम हिंदुस्तानियों के लिये तो यह पराजय-दिवस है;—एक और हँसी-भरा उपहार। अपनी दिवालियाँ जलाओ—दुगुने-चौगुने दाम देकर ख़ुशी मनाओ; नाचो-गाओ!—चाहे मन रो ही क्यों न रहा हो, क्योंकि आज तुम्हारे आक़ा ख़ुश हैं, और अगर वे ख़ुश हैं,

तो सारी दुनिया को खुश होना चाहिए। किसी को भी रंज मनाने का हक़ नहीं।

अब तुलना कीजिए इसकी स्वतंत्रता-दिवस से। सारा राष्ट्र ख़ुश है, और झूम रहा है, मस्ती से; पर बेचारा, दुखी, ग़रीब। मज़दूर—जिसके घर में अन्न का दाना नहीं, जिसके घर की देवियों के पास तन ढाँकने को वस्त्र नहीं—महँगाई का मारा क्या करे? संसार में यह तो चलता ही रहता है। समय और समाज की बलिहारी। तब उपाय? क्या समाज-वाद?

दो—

राखी ! रक्षा-बंधन !

(आज राखी रक्षा-बंधन नहीं—दास्य-बंधन है ।

बाँधनेवाले की विवशता का और बँधवानेवाले की पतितावस्था का चमकीला-भड़कीला विद्रूप हास्य !)

राखी !—रक्षा-बंधन !

हमारे अन्य त्योहारों की भाँति यह भी प्रतिवर्ष आता और चला जाता है ।

अपने अन्य त्योहारों की भाँति इसे भी हम मना लेते हैं—यंत्रवत्, केवल पूर्वजों की लकीर पीटने के लिये ।

राखी जिस भावना का प्रतीक है, वह हममें उमड़ती नहीं ; उमड़ना तो दूर रहा, उत्पन्न ही नहीं होती ।

राखी जिस शक्ति की—जिस अभय-दान की—प्रतिज्ञा का चिह्न-रूप है, वह हममें रत्ती-भर नहीं, शायद उसका ज्ञान भी नहीं ।

राखी कलाई में बँधवाने की आदत पड़ गई है । ब्राह्मण से, बहन से, माता से—राखी सबसे बँधवाने को प्रस्तुत हैं—कलाई में ताक़त हो, चाहे न हो ।

आज तो—ब्राह्मण आए, राखी बँधवाई, दक्षिणा दे दी; बहनें आईं या उनके यहाँ गए, राखी बँधवाई, रुपए दे दिए । बस !

आज तो—राखी का मूल्य रुपयों में आँकते हैं, और उसे भरकर अपने कर्तव्य की पूर्ति समझ लेते हैं।

यह नहीं समझते कि राखी कलाई में बँधवाकर हम बाँधने-वाले को रक्षा का वचन देते हैं, अपनी कलाई की ताक़त से उसे निर्भय रहने का आश्वासन देते हैं।

शायद राखी का यह अर्थ ध्यान में ही नहीं रहता।

शायद हम समझ लेते हैं कि राखी बाँधनेवाला हमें आशीर्वाद दे रहा है; हमारे शुभ भविष्य की कामना कर रहा है।

और—इस आशीर्वाद का मूल्य, शुभ भविष्य की कोमल कल्पना से पुलकित हो, हम पैसों में चुका देते हैं; समझते हैं—राखी का त्योहार मना लिया।

हम राखी के सच्चे अर्थ से कितने अनभिज्ञ हैं! या उसे समझना ही नहीं चाहते! या समझ-बूझकर भी अपनी कम-ज़ोरी के कारण न समझने का बहाना करते हैं!

राखी तो शक्ति का चिह्न है—क्षत्रियत्व की परीक्षा है!

राखी ब्राह्मणों की नहीं।

यह तो अनाथ ग़रीबों की और दीन अबलाओं की आशा है।

अपनी अशक्ति को सशक्त कलाइयों में बाँधकर मानो वे अपने को निर्भय करते हैं; मानो वे यह आश्वासन लेते हैं कि उनकी रक्षा में ये वज्र-हस्त सदैव तत्पर रहेंगे, उन्हें प्रत्येक दुःख से—प्रत्येक संकट से ढाल बनकर बचाएँगे।

आज जिनकी कलाइयाँ राखियों से भरी रहती हैं, वे स्वयं ही दुर्बल हैं—स्वयं ही कायर हैं।

वे मा-बहनों की, दीन-आश्रितों की रक्षा क्या करेंगे? वे तो स्वयं ही आशीर्वादों के—शुभ भविष्य-कामनाओं के—भूखे रहते हैं, मानो इन आशीर्वादों का बल ही उनकी सारी पीड़ाएँ हरेगा—उनके सारे संकट टालेगा।

आज कमजोर तो इस भावना से राखी बँधवाते हैं, और सहजोर राखी का मूल्य नहीं समझते। वे जिन हाथों से राखी बँधवाते हैं, उन्हीं पर अत्याचार करते हैं, क्रूर बन, नृशंस बन उन्हीं को पीस देते हैं।

आज मा-बहनों के रक्षक नहीं—भक्षक बहुत हैं—उनके स्वास्थ्य के, उन्नति के, रूप के।

आज दीन-ग़रीबों के रक्षक नहीं—भक्षक बहुत हैं—उनके परिश्रम के, कमाई के, ताक़त के।

आज राखी रक्षा-बंधन नहीं—दास्य-बंधन है।

बाँधनेवाले की विवशता का और बँधानेवाले की पतितावस्था का बड़कीला-भड़कीला विद्रूप हास्य!

इसे मिटा दो—मानसिक ग़ुलामी के इस चिह्न को हटा दो।

या फिर—इसे वास्तविक करो। इसका अर्थ समझो। कलाइयाँ सशक्त करो, जिससे वे राखी की—राखी बाँधनेवाले की—रक्षा कर सकें—उसे आपत्तियों से बचा सकें।

कमज़ोर सशक्त बनें, और सहज़ोर पवित्र बनें।

जिससे बहनें निर्भय हों, उन्नति-पथ पर अग्रसर हों।

जिससे दीन-ग़रीब बुभुक्षिता और अभाव से विमुक्त हो जीवन का स्वाद पा सकें।

आज का आदर्श—कर्मण्य कृष्ण

(श्रीकृष्ण ने कभी रूढ़ि-प्रियता नहीं अपनाई। सदैव परिस्थितियों तथा समस्याओं का निरपेक्ष भाव से अध्ययन किया, और तब उन्हें सुलझाने के नवीन और मौलिक रास्ते निकाले। इसकी कभी परवा नहीं की कि वे प्रचलित प्रथाओं के विरुद्ध हैं या अनुकूल।)

हिंदू-धर्म के अनेक अवतारों में से लोक-प्रियता केवल दो ही प्राप्त कर सके—श्रीराम और श्रीकृष्ण।

अपने-अपने क्षेत्र में दोनो महान् विभूतियों के कार्य अनुकरणीय हैं, फिर भी श्रीराम मर्यादा के आदर्श हैं—'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कर प्रसिद्ध हैं। साधारण मानव को उनके अनेक कार्यों का अनुकरण करने में जिस साहस और त्याग की कसौटी पर कसीजना पड़ेगा, उसमें पूरे रूप से खरा उतर पाना विरल है, जब कि भगवान् कृष्ण के जीवन का प्रत्येक कार्य और समस्त कार्य जीवन के जटिल मार्ग में भ्रमित तथा थकित मन के लिये ऐसा पथ-प्रदर्शन करते हैं, जिसे अपनाना संसार-चक्र में निरंतर पिसते हुए जन-साधारण के लिये उनका कष्ट-हर होता है। श्रीकृष्ण को भगवान् न माननेवालों के लिये भी वे सर्वोत्तम नीतिज्ञ और कार्य-कुशल महान् आत्मा हैं, जिनका अनुकरण वे पद-पद पर करते हैं

ऐसे श्रीकृष्ण-चरित्र में एक समानता निरंतर दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने कभी रूढ़ि-प्रियता नहीं अपनाई। सदैव परिस्थितियों तथा समस्याओं का निरपेक्ष भाव से अध्ययन किया, और तब उन्हें सुलझाने के नवीन और मौलिक रास्ते निकाले। इसकी कभी परवा न की कि वे प्रचलित प्रथाओं के विरुद्ध हैं या अनुकूल। निज निर्मित रास्ते पर साहस से स्वयं चले, और दूसरों को चलाया।

श्रीकृष्ण-चरित्र की सभी घटनाओं में यह तत्त्व दर्पणवत् स्पष्ट चमकता है। बाल्य-काल से मृत्यु-पर्यंत के उनके कार्य इसी नीति के उदाहरण-मात्र हैं। उन्होंने कभी किसी स्थान, व्यक्ति या सिद्धांत से अंध प्रेम नहीं किया। परिस्थितियों का तक़ाज़ा होने पर वे प्यारी-से-प्यारी वस्तु के बिछोह से नहीं घबराए, व्रज और गोपियों को—यहाँ तक कि श्रीराधा को भी, छोड़ दिया। उन्होंने देखा कि उनके ऐसा न करने पर व्रजवासियों पर आपत्तियों की घटाएँ उमड़ती हैं, और अनेक की भलाई के लिये उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के स्नेह तथा रास-रंग के सुख की परवा न की। आज उनके अनुयायी—वैष्णव-संप्रदाय के परम भागवत भक्त—श्रीकृष्ण के जिस रसीले जीवन की पूजा में ही अपने कर्तव्य तथा जीवन की सारी सार्थकता केंद्रीभूत किए बैठे हैं, उस व्रज-विलास को भगवान् श्रीकृष्ण ने, कर्म-क्षेत्र से पुकार आने पर, जर्जर, जीर्ण, शीर्ण वस्त्र की भाँति परित्याग कर दिया था।

भगवान् कृष्ण कभी परिस्थितियों के प्रतिकूल नहीं चले। यहाँ तक कि इंद्र-पूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा की स्थापना कर उन्होंने दिखा दिया कि धर्म तक का भी समयानुसार लोक-हितकारी रूप अपनाते रहना चाहिए। पूर्वजों की कार्य-प्रणाली प्राचीन परिस्थितियों में आदर्श थी; परिस्थितियाँ बदल जाने पर यदि उसी पर चलते रहना हानिकर हो, तो उसमें उचित या आमूल-चूल परिवर्तन अवश्य ही कर देना चाहिए।

समाज और धर्म, राजनीति और व्यक्तिगत जीवन—सभी में श्रीकृष्ण आँखें खोलकर चलने के हामी रहे। अनुपयुक्त या कम उपयुक्त के स्थान पर अधिक उपयोगी को सदैव अपनाते रहे। व्रज छोड़ मथुरा अपनाई, मथुरा छोड़ द्वारका। खूब डटकर अनेक बार युद्ध-क्षेत्र में लड़े भी, और शत्रु-नाश के लिये युद्ध-क्षेत्र से भागे भी। यादवों का एक राष्ट्र भी बनाया, और आवश्यकता पड़ने पर महाभारत भी मचवाया।

किसी भी दृष्टि से देखिए, आज श्रीकृष्ण के अनुयायी—वास्तविक अनुयायी—पश्चिम में हैं, हम-आप में नहीं—हिंदुओं में नहीं, वैष्णवों में नहीं। हम-आपने श्रीकृष्ण-चरित्र के रास-विलास-भर को अपनाया, उनकी कर्मण्यता और साहसिकता पर चलने की स्वप्न में भी भूल नहीं की, और परिणाम स्पष्ट है। श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं में रँगकर हम विलासी हो गए, आनंद-प्रिय होकर कायरता अपना बैठे, और परिणाम-स्वरूप सब कुछ खो बैठे।

यदि हमने भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं को अपनाने से कहीं आगे बढ़कर उनके यौवन और प्रौढ़ावस्था के कार्य-कलापों को अपनाया होता, तो भारतवर्ष आज एक बृहत्तर शक्तिशाली राष्ट्र होता, जिसके भ्रू-भंग हो जाने पर सभी राष्ट्र थरथराने लगते।

अब भी यदि हम श्रीकृष्ण की बाल-उपासना से आगे बढ़ जायँ, तो एक अद्भुत परिवर्तन थोड़े समय में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। यदि हमारे युवक अपने-अपने व्रज छोड़कर अपनी-अपनी मथुरा जाने और अपनी-अपनी द्वारका बसाने का निश्चय कर लें, तो हिंदू-जाति में—भारतीय राष्ट्र में—जिस साहस और कर्मण्यता का संचार हो उठे, उसके सामने विश्व की महान्-से-महान् शक्ति भी नीचा देखे।

और भी एक बात है। हम कृष्ण की बाल-रूप-उपासना के योग्य भी नहीं। जहाँ संपन्नता नहीं, वैभव नहीं, वहाँ बालक को कौन-सा सुख? ग़रीबी में, दीनता में हम अपने बच्चों की रोग और दुर्बलता से कैसे रक्षा कर सकते हैं? उनकी क्रीड़ाओं के साधन कहाँ से जुटा सकते हैं? दीन भारत में कृष्ण की बाल-मूर्ति की पूजा एक विडंबना है—एक लांछन है। करोड़ों घरों के सजीव बाल-कृष्ण तो भूख से बिलबिलाएँ—रोग और कमज़ोरी के शिकार रहें—और हम-आप बाल-कृष्ण की प्रतिनिधि मूर्ति की पूजा में हज़ारों-लाखों की संपदा उड़ाते रहें। यह कहाँ की धार्मिकता है? कहाँ का न्याय है? हमारी

बाल-कृष्ण की पूजा भी वास्तविकता तभी धारण करेगी, जब प्रत्येक घर संपन्न हो—वहाँ भोजन, वस्त्र तथा औसत जीवन-सुख के साधनों का अभाव न हो, और उसका बाल-कृष्ण सुखी हो, स्वस्थ हो, प्रमुदित हो।

इसके लिये भी—दीन भारत के प्रत्येक घर में संपन्नता और जीवन का सुख लाने के लिये भी—श्रीकृष्ण की कर्मण्यता ही अपनानी होगी; जीवन-संग्राम-क्षेत्र में सभी उपायों और नीतियों से लड़कर विजय प्राप्त करनी होगी।

वैष्णव अपनी बाल-कृष्ण-उपासना सार्थक करने के लिये कर्मण्य बनें। भारतीय अपने राष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिये कृष्ण की कर्मण्यता अपनावें—और सब—आँख खोलकर चलने की परिस्थितियों के अनुकूल उपाय ढूँढ़ने की श्रीकृष्ण-नीति को अपनाएँ।

आज के भारत में परिस्थितियों का यही तकाज़ा है, और यदि हम श्रीकृष्ण के सच्चे अनुयायी बनकर उनके आदर्श से लाभ उठाना चाहते हैं, तो हमें यही करना चाहिए; अवि-लंब कर्मण्य और साहसी बन जाने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए।

विजया

(आज तुम्हें प्रमाणित करना होगा कि तुम आर्य-संतान हो—वर्ण-संकर नहीं।

और यह प्रमाण—जन्म-कुंडलियाँ नहीं देंगी; वंश-वृक्ष नहीं देंगे।)

अभी पूजा है, और उसकी समाप्ति पर विजया!

ठीक भी है! पूजा-आराधना के बाद आना ही चाहिए—विजया को।

पर कहाँ?—कहाँ?—विजया के कहीं दर्शन नहीं, और पूजा में वास्तविकता नहीं।

देवी के—काली के—भक्त कायर हैं, साहस-हीन हैं। उनमें बल नहीं—दुर्बलों के रक्षक बनने का; सबल अत्याचारियों से मुक़ाबिला करने का।

देवी के भक्त भक्षक बन गए हैं—देवियों के ही, और हा-हा खाते हैं, डरते हैं, काँपते हैं—सबल दुराचारियों से।

तब—विजया आए भी, तो क्योंकर?

पराजित विजयोत्सव मनाएँ, इससे बड़ी विडंबना और हो ही क्या सकती है।

पराजय में अमर्यादित, असंयमित विश्रृंखलितो! उठो!

अपने घर को सँभालो। अपने समाज को सँभालो। अपने देश को सँभालो।

राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। मर्यादा-हीनो! अपनी मर्यादा बाँधो। अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करो।

केवल-मात्र पूर्वजों का गुण-गान करने से ही कुछ न होगा। उनके जीवन का—उनके आदर्श का—अनुकरण करो।

उन्होंने अपने बल से, अपने वैभव से दिग्दिगंत में कीर्ति-ध्वजा फैलाई थी; यश-सौरभ प्रवाहित किया था।

अनजाने ही पैदा होने और अनजाने ही मर जानेवालो! अपने को उनका अंशज कहते हुए लज्जा क्यों नहीं आती? अरे! उन पूर्वजों का एक बूँद खून भी तुममें होता, तो तुम यों निस्सहाय, कायर और निश्चेष्ट बने रहते?

उठो! कमर कसो! आज तुम्हें प्रमाणित करना होगा कि तुम आर्य-संतान हो—वर्ण-संकर नहीं।

और यह प्रमाण—जन्म-कुंडलियाँ नहीं देंगी; वंश-वृक्ष नहीं देंगे।

इसका प्रमाण तो तुम्हें अपने कार्यों से देना होगा।

राम की भाँति मर्यादा बाँधो, उस पर स्थिर रहो, और उस मर्यादा की रक्षा में राज्य के प्रलोभन और साध्वी पत्नी के मोह भी त्याग देने का साहस दिखाओ।

ऐसा कर दिखाने पर ही तुम 'विजया' का गर्व, 'विजया' का उल्लास अनुभव कर सकोगे।

गुड्डा-गुड्डी के समान राम-सीता बनाकर उनके सामने सिर मत नवाओ। स्वयं राम-सीता का पदानुसरण करो, और कीर्तिवंत बनो!

तब विजया मनाना!

अभी तो विजय-यात्रा के योग्य बनो, विजय-यात्रा करो, और विजय पाकर दूसरों के सामने सिर ऊँचा रखने लायक बनो!

तुम्हारे सामने अनेक क्षेत्र हैं, और सबमें तुम पिछड़े हुए हो। सभी में विजय प्राप्त करनी है।

उठो! कमर कसो, और राम ने जिस दशमी को विजय-यात्रा आरंभ की थी, उसी को तुम भी अपनी विजय-यात्रा आरंभ करो।

दीप-मालिका

(उलूक मत बनो ! वह तो लक्ष्मी के बोझ-मात्र का अनुभव करता है ।)

दीप-मालिका !

दीपों की पंक्तियों पर पंक्तियाँ—मालाओं पर मालाएँ—इतनी कि अमा के घोर अंधकार में भी पूर्णिमा का स्निग्ध, सरस प्रकाश फैला दें ।

अँधेरे में उजाला लाना—

यही दीप-मालिका का कार्य था ।

था !—है नहीं । होता, तो ये दिन देखने नहीं पड़ते ।

आज दीपक टिमटिमाते हैं, पर दो-चार घंटे टिमटिमाकर बुझ जाते हैं । घर को ही उजेला नहीं कर पाते । दुनिया की अमा तो क्या दूर करेंगे ?

दीपों का कोई क़सूर नहीं । क़सूर है दीपक सँजोनेवालों का । उनमें शक्ति नहीं, स्फूर्ति नहीं, और समझ भी नहीं ।

दीपक एकता का चिह्न है—एक लक्ष्य के लिये तेल और बत्ती की तरह हिल-मिलकर, लौ लगाकर प्रयत्न करने का प्रतीक है । कितना स्निग्ध ! कितना प्यारा !

आज दीपक की यह प्राण-प्रतिष्ठा दीप जलानेवालों में नहीं ।

और, इसलिये प्रत्येक घर ईर्ष्या, कलह तथा द्वेष की आग में जल रहा है—धायँ-धायँ कर; पास आनेवाले के मुँह को भी झुलसा देनेवाली लपट लिए।

आज दीपकों की मुदमय ज्योति में हम गत वर्ष को सहर्ष बिदा कर नूतन वर्ष का सप्रेम स्वागत नहीं करते—कर ही नहीं सकते।

हमारे घर खँडहर हो रहे हैं, हमारे व्यवसाय जीर्ण हो रहे हैं—उनकी सम्पत्ति, उनकी समृद्धि आज दूसरों की श्रीवृद्धि करने में सार्थक समझ पड़ती है।

हम लक्ष्मी के भक्त न होकर उसके भक्तों के दास हो रहे हैं—बासी जूठन के टुकड़े पाने पर ही अपने को कृतकृत्य समझ लेनेवाले।

और, यह इसलिये कि दीपक सँजोनेवालों में एक मन नहीं। एक प्राण नहीं।

हममें आत्मविश्वास नहीं। हममें साहस नहीं।

इतना ही नहीं। हममें है परस्पर अविश्वास—एक दूसरे का डर।

हम अपने ही घर में रहनेवाले से भयभीत हैं, हम अपनी ही छाया से डरते हैं।

दूसरे हमारे लिये प्रकाश लाते हैं—हमारा कादर अँधियारा दूर करते हैं।

परंतु, इन विदेशी प्रकाशों में वह एकात्म्य नहीं, वह सरस

शुद्धमय कांति नहीं, एक चमचमाहट-भर है—नेत्रों को चकाचौंध करनेवाली, मस्तिष्क को विजड़ित करनेवाली।

दीपक सँजोनेवालो! अपने ही दीपक सँजोओ, पर सँजोओ प्यार से, उनमें अपनी ही आत्माओं का निर्विकार स्नेह भरकर, किसी दूसरे के दीपक पर ललचाकर नहीं; किसी दूसरे के दीपक को निष्प्रभ कर नहीं।

साथ ही दीपक-सदृश बनो! स्निग्ध बनो! प्रिय बनो!

दीपक के ही सदृश लगनशील बनो, निरंतर ऊपर-ही-ऊपर उठते हुए, चतुर्दिक् रम्य किरण-राशि छिटकाते हुए।

और—

तभी देखोगे—

उसी शुभ्र, प्रोज्ज्वल प्रकाश में—

कमलेश्वरी लक्ष्मी के वरद हस्त की अभय मुद्रा को—

उल्लूक मत बनो! वह तो लक्ष्मी के बोझ-मात्र का अनुभव करता है।

कमल बनो—कमल! जो लक्ष्मी को हृदयासीन किए रहता है। सदैव उसके मधुर रूप की आभा से प्रोज्ज्वल रहता है।

दीपक सँजोनेवालो! कमल बनो—कमल! जो निरंतर स्नेह-सागर में उतराता रहता है।

श्रीपंचमी

(आज हम वसंत तो लाते हैं और उनसे अपने घरों को सजाते भी हैं, पर एक यंत्र की भाँति—बिना तनिक भी उमंग दिखाए।)

वसंत-पंचमी का एक नाम श्रीपंचमी है। प्राचीन समय में आज के दिन एक बड़ा उत्सव होता था—खूब ही खेल-कूद और गान-वाद्य से पूर्ण। उत्सव और स्फूर्ति की दीप्ति से प्रत्येक मुख-मंडल प्रकाशित हो जाता था। वसंत के समान ही प्रत्येक प्राणी विकसित और प्रफुल्लित दिखाई पड़ता था।

तब हम लोग प्रकृति से सहयोग करते थे। उसमें जीवन और श्री की उत्पत्ति हममें भी उष्णता और कांति का संचार करती थी। तब, आज की भाँति, हम केवल लकीर नहीं पीटते थे। आज हम वसंत तो लाते हैं, और उनसे अपने घरों को सजाते भी हैं, पर एक यंत्र की भाँति—बिना तनिक भी उमंग दिखाए।

हमारा इस प्रकार श्रीपंचमी मनाना निरर्थक है। यदि प्रकृति में नवजीवन देख हममें नवस्फूर्ति नहीं आती; यदि प्रकृति की नव्य श्री का हम पर थोड़ा भी प्रतिबिंब नहीं पड़ता, तो श्रीपंचमी का यह उत्सव हमारे लिये महत्त्व-शून्य है।

पाले और ओस से मुर्झाई प्रकृति धीरे-धीरे गरमाने लगी

है। हवा अपनी ठंडक और तिखाई छोड़कर मधुरस्पर्शी और पत्तियाँ अपना भारीपन छोड़कर चंचल हो रही हैं। सभी वस्तुओं से शीत की निष्क्रियता दूर हो चली है। चिड़ियों का गाना अधिक सचेष्ट और सरस, पक्षियों का उड़ना अधिक चपल और स्फूर्त हो रहा है। सभी ओर जीवन और श्री की बढ़ती है।

पर तुममें कोई उमंग नहीं दिखती। तुम्हारे वसंत लह-लहाते हैं। वे पल-पल पर थिरक उठते हैं। उन्हीं की भाँति तुम भी प्रफुल्लित क्यों नहीं होते ? उन्हीं की भाँति तुम भी पल-प्रतिपल क्यों नहीं इठला उठते ?

तुम्हारे मुख पर मंदस्मित बढ़ती जाय, तुम्हारे हृदय में उमंग-भावना प्रबल होती जाय—यही तो श्रीपंचमी का संदेश है। तुम इसे समझो तो !

होली

(बुराई के नाश पर इस उत्सव का मनाया जाना प्रारंभ हुआ था ।)

आज तुम होली खेल रहे हो । अबीर उड़ाकर और पिच-कारियाँ चलाकर अपने मन का आनंद प्रकट कर रहे हो । एक दूसरे को वसंती रंग से रँगकर रँगरलियों में मस्त हो रहे हो ।

तुम समझते हो, यही होली है; यही होली का खेलना है । मस्तक पर अबीर लगाने और कपड़ों पर बढ़िया-सा, हलका रंग छिड़कने को ही तुम होली खेलना समझते हो ।

परंतु क्या सचमुच यही होली खेलना है ? तुम होलि-कोत्सव की उत्पत्ति जानते हो ? प्रह्लाद की बुआ होलिका प्रह्लाद को अग्नि में जला देने के उद्देश्य से उसे गोद में लेकर चिता पर बैठी थी । उसका उद्देश्य बुरा था, इसलिये वह तो जल मरी ; परंतु प्रह्लाद, किसी की बुराई न चाहने के कारण, बच गए । तभी से यह उत्सव मनाया जाने लगा है । बुराई के नाश पर इस उत्सव का मनाया जाना प्रारंभ हुआ था । यह उत्सव तुम्हारे सामने प्रह्लाद का दृष्टांत रखकर कहता है—भलाई की विजय सदैव होती है; तुम भलाई पर दृढ़ रहो, तो बुराई तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगी; वह स्वयं ही बिगड़ जायगी ।

होली पर तुम रंग खेलकर आनंद मनाते हो। यह उचित भी है। भलाई की विजय पर आनंद मनाने को कौन बुरा कहेगा? पर सच बताना, होली खेलते समय कभी तुम्हें ध्यान भी आया है कि तुम होली किसलिये खेल रहे हो? तुम तो शायद मनोरंजन—दिल-बहलाव—समझकर ही रंग चलाते हो। इसीलिये मैंने कहा कि अबीर लगाना और रंग चलाना ही होली खेलना नहीं है। जब तक तुम यह न याद रक्खोगे कि होली तुम्हें भला बनने को कहती है, तब तक तुम सच्ची होली नहीं खेलते। याद रक्खो, होली तुमसे कहती है—तुम भलाई पर दृढ़ रहो; भलाई के लिये, प्रह्लाद की तरह प्रत्येक आपत्ति सहो, अंत में तुम जीतोगे, और तुम्हारा नाम अमर हो जायगा।

याद रक्खो, होली के खिलाड़ी तुम अबीर उड़ाकर और रंग चलाकर नहीं बन सकते। होली के खिलाड़ी—हाँ, सच्चे खिलाड़ी—तो तुम तभी कहलाओगे, जब साल के बारहों महीने तुम भले-ही-भले काम करते रहोगे।

तीन—

अपना रास्ता स्वयं चुनें !

(झगड़ा नए और पुराने का नहीं है। झगड़ा है—पराधीनता और स्वाधीनता का।

झगड़ा है—अपना रास्ता स्वयं चुनने का और आँख बंद कर कहे-कहे पर चलने का।)

"पुराना सड़ गया, गल गया; उसे फेंक दो; नए में जीवन है, शक्ति है, स्फूर्ति है; उसे अपनाओ।"

"नया त्याज्य है, हेय है; पुरातन सनातन है, खरा है। पूर्वजों के पथ पर आरूढ़ रहो; विनाश-मार्ग पर न दौड़ो।"

ये दो पुकारें हैं, जो नित्यप्रति, क्षण-प्रतिक्षण, हमारे कानों में पड़ती हैं।

नूतन और पुरातन के ये आवाहन वस्तुतः एक हैं; दोनो ही कहते हैं—आँखें न खोलो; उन्हें बंद किए चले आओ।

दोनो ही अंध-अनुकरण करने के लिये कहते हैं—पुराने स्पष्ट शब्दों में और नए द्राविड़ी प्राणायाम से।

सच तो यह है—न तो नया अच्छा-ही-अच्छा है और न पुराना बुरा-ही-बुरा।

जिसे हम पुराना समझते हैं, वह पुराना नहीं, दो-चार सौ वर्षों की ही सृष्टि है।

जो सचमुच प्राचीन है—सहस्रों वर्षों की धरोहर है, वह जिसे हम पुराना समझते हैं, उससे नितांत विभिन्न है।

उसमें न मानसिक दासता ही है और न शारीरिक पतन ही।

उसमें न शिक्षा का ह्रास ही है और न अवगुंठन की माया ही।

उसमें न सामाजिक वैषम्य ही है और न पाखंड का प्राबल्य ही।

उस स्वर्ण-काल में भीतर-बाहर में अंतर न था। धर्म-ताप धोने का साधन न था—था अंतःकरण के आदेशानुसार, दुनिया के विरोध को ठुकराते हुए, चलने का उपदेशक।

तब—

धनी-निर्धन का द्वंद्व न था; पुरोहित-पुजारियों का पाखंड न था, था एक दूसरे का रक्षण; पवित्र तपोनिधि का जीवन।

तब—

स्त्रियाँ मूर्ख न थीं, विलास की सामग्री न थीं, थीं विदुषी, आदर की वस्तु।

और—

एक दूसरे का गला न काटते थे, एक दूसरे से हिल-मिलकर रहते थे—प्रत्येक के लाभ-हेतु।

पुरातनवादी ऐसे प्राचीन के समर्थक नहीं। वे तो समर्थक हैं उस पुराने के, जिसमें स्त्रियाँ कठपुतली हैं—परदे की

दासियाँ, समाज ग़ुलाम है—कुछ धनाधीशों और मठाधीशों के विलसित जीवन के लिये, और जीवन का प्रकृत प्रवाह पद-पद पर कृत्रिम सामाजिक और धार्मिक बंधनों से अवरुद्ध है।

ऐसा पुराना निश्चय ही सड़न है—गलन है। उसे फेंकना ही होगा—जलाना ही पड़ेगा।

और उसके स्थान पर ?—

नया।

पर कैसा ?—

जो कहीं की जूठन न हो; किसी का अंध-अनुकरण न हो।

आज जिसे हम नया कह रहे हैं, वह वस्तुतः नया नहीं है—है पश्चिम की, सहस्रों कोस दूर निवासी शासकों की, सभ्यता का उच्छिष्ट।

नया—कहने का अर्थ है पश्चिम का विलासमय, स्वच्छंद जीवन—वहाँ के साहस से हीन, ज्ञान से हीन, आपत्तियों से पग-पग पर लड़कर जीवन-संग्राम में विजयी होने की भावना से हीन।

नया—कहने से संकेत है पश्चिम के गुण अपनाए बिना ही उसके अवगुणों को कंठ-हार बनाने से।

ऐसे नए से तो पुराना ही अच्छा, जो हमें अकर्मण्य तो नहीं बनाता—भले ही जीवन का स्वाद न लेने दे; जो हमें आलसी तो नहीं बनाता—भले ही परिश्रम का फल न मिलने

है; जो हमें दुःख में कातर तो नहीं होने देता—भले ही त्याग की भावना से न भरे।

झगड़ा नए और पुराने का नहीं है। झगड़ा है—पराधीनता और स्वाधीनता का।

झगड़ा है—अपना रास्ता स्वयं चुनने का और आँख बंद कर कहे-कहे पर चलने का।

नया हो, चाहे पुराना, आवश्यकता है—हम स्वयं विचार करें—कौन उपयोगी है? किसका कहाँ तक अनुकरण श्रेयस्कर है?

न नए से ही झिझकना होगा और न पुराने से ही बिच-कना। अपनी आवश्यकताएँ देखें और देखें—किससे उनकी पूर्ति होगी। अपनी दुर्बलताएँ देखें और देखें—किससे उनका निवारण होगा।

नए की चमक-दमक में न फँसें। पुराने की माया-ममता में न आबद्ध हों।

नया हो या पुराना—आँखें खोलकर उसे देखें और उप-योगी हो, तो साहस के साथ अपना लें।

नया हो, तो पुरानों की भर्त्सना से न डरें। पुराना हो, तो नयों की खिल्लियों से न भयभीत हों।

अपना रास्ता स्वयं चुनें—दूरदर्शिता के साथ बुद्धि का उप-योग करते हुए।

तभी—प्राण है; मुक्ति है; जीवन है।

युगांतर

(अब—न तो रोने से ही काम चलेगा और न दूरदर्शी—अगल-बगल बचानेवाले—सुधार से ही ।)

कभी—चाँदनी निखर रही थी; यौवन-कांति दमदमा रही थी, और मंद स्मित छिटक रही थी।

तब—चतुर्दिक् राशि-राशि विभोर-सुषमा बिखर रही थी; मधुर रागावलि गूँज रही थी, और संपन्न समृद्धि उमड़ रही थी ।

वह बसंत था—विकास था।

अब—प्रचंड किरणें भून रही हैं; असमय वृद्धावस्था आ गई है, और यौवन दार्शनिकवत् गंभीर हो उठा है ।

चतुर्दिक्—पीड़ित दैन्य का तांडव नर्तन है; गगनभेदी चीत्कारों का भैरव निनाद है, और मृत्युकर अभाव का सर्वभक्षी अकाल है ।

अब—न तो रोने से ही काम चलेगा और न दूरदर्शी—अगल-बगल बचानेवाले—सुधार से ही ।

अब तो—कहरवा नाचना पड़ेगा । एक बार ,खुलकर सर्वनाश के दर्शन करने होंगे । मोह छोड़कर समृद्ध अतीत के रम्य चिथड़ों को भस्मीभूत करना होगा ।

निश्चय—मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलेगा। अतीत की राख किए बिना अतीत के दर्शन न होंगे।

एक बार अपने सर्वाधिक प्रिय का क्रिया-कर्म करना ही होगा। जीवन में मृत्यु का अनुभव कर ही अपने प्रिय का अमर स्मारक निर्मित कर सकोगे।

एक बार मन पर पत्थर रखकर प्रिय अतीत के शव में आग लगा दो।

तब—अपनी बुद्धि से, अपने कौशल से, एक ऐसे युग का निर्माण करो, जो व्यतीत युग का भव्य स्मारक हो।

वही—नूतन अतीत होगा।

उसमें—चाँदनी निखरेगी; यौवन-कांति दमकेगी और मंद स्मित छिटकेगी।

उसी में—चतुर्दिक् राशि-राशि विभोर-सुषमा बिखरेगी; मधुर रागावलि गूँजेगी और संपन्न समृद्धि उमड़ेगी।

युगांतर अतीत का ही दूसरा रूप तो है।

दंपति

(पत्नी—न तो पैर की जूती है, न विलास की सामग्री और न घर की मालकिन।

पत्नी वही है, जो पति।

प्रकृति में यह सत्य दर्पणवत् स्पष्ट चमकता है।)

पत्नी—न तो पैर की जूती है, न विलास की सामग्री और न घर की मालकिन।

पत्नी वही है, जो पति।

दांपत्य-रथ में पति और पत्नी दो चक्र हैं, जो सम हैं—विषम नहीं।

दोनो की एक-सी उपयोगिता है: एक-सी शक्ति है।

जीवन-यात्रा में पति और पत्नी हाथ में हाथ मिलाकर चलनेवाले हैं; स्वामी-सेवक की भाँति आगे-पीछे चलनेवाले नहीं।

प्रकृति में यह सत्य दर्पणवत् स्पष्ट चमकता है।

पर मनुष्य प्रकृति को बंधनों में बाँधना चाहता है,—सो भी उसके प्रतिकूल चलते हुए।

इसीलिये उसमें इतना वैषम्य है ! इतना चीत्कार है ! और है इतनी अशांति !

उसने अपने हाथों अपनी अमृत-प्याली में विष घोला है—पत्नी को पंगु बनाकर; उसे प्रेम और सहयोग के स्थान में वासना और निर्भरता देकर।

इसी कारण पत्नी इस समय भार है—पैर में जंजीर की भाँति या कमर तोड़ देनेवाले बोझ की भाँति।

घर की बंदिनी ! परदे की पुतली ! आभूषणों की दासी !—और हो ही क्या सकती है ?

वह विषम जीवन-संग्राम में सहायिका नहीं ; रम्य प्रकृति-विहरण में संगिनी नहीं।

वह है—विलास द्वारा अकर्मण्यता-उत्पादिका या अंध-विश्वास द्वारा बंधनकारिका।

इस समय पत्नी ऐसी है, और उसे ऐसा बनाया है—स्वयं हमने।

हमने अपने ही हाथों लोह-शृंखला की एक-एक कड़ी गढ़ी है।

हमने अपने ही हाथों पत्नी को बंदिनी बनाया है।

और पत्नी बंदिनी बनी है तो इसीलिये कि वह हमें वस्तुतः प्यार करती है।

इस बंधन से उसे तो हानि पहुँची ही है, पर उससे कहीं अधिक हमें।

हम एक-एक ग्यारह के स्थान में एक रह गए हैं।

हम प्रेम के स्थान में वासना की पूजा करने लगे हैं।

और इसी कारण हम हो गए हैं कर्तव्य-विमुख—विश्व-संग्राम में हारनेवाले; प्राणों की, पशु की भाँति, अपमान और दुःख सहकर भी, ममता न त्यागनेवाले।

इस दयनीय अवस्था से हम निमिष-मात्र में ऊपर उठ सकते हैं।

एक पल में हम अपनी खोई मनुष्यता प्राप्त कर सकते हैं।

हमें तनिक साहसी-भर होना है—प्रचलित रूढ़ियों को एक झटका-भर लगाना है।

जिससे—पत्नी दासी न रहे, सहयोगिनी हो जाय;

बंदिनी न रहे, संगिनी हो जाय।

जिससे—

विषम जीवन-संग्राम में वह हमारी सहायिका बने; रम्य प्रकृति-विहरण में हमारी संगिनी बने।

जब शीतल चंद्र-रश्मि में, पैर पलोटती हरित राजि बीच, प्रकृति की रम्य मधुरिमा से स्निग्ध होते हुए हम पत्नी के साथ विश्व-रहस्य की गुत्थियाँ सुलझाएँगे।

और जब—

प्रचंड चंडकर की किरणों में, भुलभुलाती बालुका बीच, निष्ठुर विश्व का व्यंग्य-हास्य सुनते हुए हम पत्नी के साथ अपने निश्चित मार्ग पर चलते जायँगे।

और दोनों के ही आनन मंद-स्मित-प्रतिभासित होंगे ; दोनों ही एकात्म्य अनुभव करते होंगे।

तभी—

"दंपति का वास्तविक अर्थ हम समझ पाएँगे।"

रुपया

(क्या तुम्हें रुपए को छोड़कर सुख—मनस्तुष्टि—का और कोई साधन नहीं सूझता ?)

रुपया ! रुपया !! रुपया !!! क्यों तुम रुपए के पीछे इतना पड़े हो ! क्यों तुम अपने जीवन की प्रत्येक घड़ी लक्ष्मी के तलवे सहलाने में ही काटते हो ? क्यों तुम सदैव ऐसे ही तिकड़म भिड़ाने की चिंता में रहते हो, जिनसे तुम सहज ही लक्षाधीश बन जाओ ? सुख ! सुख-प्राप्ति के लिये ही तो तुम यह सब करते हो न ? तुम देखते हो कि धनी पुरुष पाँव-पयादे नहीं चलता, मोटा कपड़ा नहीं पहनता, साधारण-सी झोपड़ी में नहीं रहता; और तुम उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या करने लगते हो। उसकी मोटरों, कपड़ों और महलों की कल्पना तुम्हारे मुँह में पानी ला देती है। तुम उसके सुख के चित्र सुनहली कूँची से खींचने लगते हो।

परंतु ऐंद्रिय तृप्ति ही तो सुख नहीं है। धनी को उत्तम वस्तुओं का उपभोग उपलब्ध है, परंतु सुख का संबंध तो मन से है न ? मन की तुष्टि ही तो सुख का प्रादुर्भूत करती है न ? पर मन तो चिंता के अभाव में ही संतुष्ट होता है। धनी को चिंता से छुटकारा कहाँ ? उस पर तो तुमसे कहीं अधिक

बोझ लदा रहता है। उसे तो तुमसे कहीं अधिक भय रहता है। तब तुम क्यों "रुपया! रुपया!!" चिल्लाते हो? क्या इस संसार में रुपया ही सब कुछ है?

क्या तुम रुपए की खोज में अपने आपको इतना भूल गए हो कि इस संसार की अशांति तुम्हारा चित्त नहीं उबाती? क्या तुम्हें रुपए को छोड़कर सुख—मनस्तुष्टि—का और कोई साधन नहीं सूझता? क्या प्रेम और शांति में तुम्हें सुख के विमलतम रूप के दर्शन ही नहीं होते? क्या रुपए की खोज को छोड़कर और किसी कार्य का आवाहन तुम्हें सुनाई नहीं पड़ता? तुम ऊँचे, दमदमाते. आकर्षक महल के स्थान में प्राकृतिक हरीतिमा के बीच किसी कोने में अपने छोटे-से अस्तित्व ही में मग्न शांति-सदनों के स्वप्न क्यों नहीं देखते? तुम उत्तमोत्तम व्यंजन और धनी पुरुषों के बीच हा-हा-ही-ही के स्थान पर स्निग्ध चंद्र-रश्मियों के नीचे बैठे हुए प्रेम की बातें करते प्रेमी-युगल की कल्पना क्यों नहीं करते? तुम रुपए की खोज में समस्त दिन व्यर्थ की उछल-कूद करने के बाद थका-माँदा, अशांत, प्रेम-हीन हृदय लेकर घर आने के स्थान पर चुपचाप ऐसे कार्य कर, जिनसे तुम्हारे मन को आह्लाद मिले और संसार का कल्याण हो, शांत, प्रेम से लबालब भरा हृदय लिए घर को लौटना क्यों नहीं सोचते?

विश्ववाद

(एक के लाभ का अर्थ है किसी दूसरे की हानि। तब कैसे संभव है ऐसे कार्य करना, जो समस्त प्राणियों को लाभप्रद हों ?)

विश्ववादी और विश्ववाद ! क्या है इसका अर्थ, और क्या है इसकी भावना ? क्या है इसकी वास्तविकता, और कितनी है हमारे जीवन में इसके सिद्धांतों पर चलने की संभावना ?

विश्ववाद समस्त विश्व को समान दृष्टि से देखता है। कैसे है यह संभव ? किसी वस्तु-विशेष से अधिक प्रेम न होना किस मनुष्य के लिये संभव हुआ है ? मनुष्य है भावनाओं का भंडार। मनुष्य है रागात्मक जीव। कैसे संभव है उसके लिये सभी वस्तुओं पर समान प्रेम रखना ? कैसे है संभव उसके लिये किसी वस्तु-विशेष से अधिक संबंधित न हो जाना ? और, किसी वस्तु से अधिक प्रेम रखने का अर्थ है दूसरी वस्तुओं के उचित प्रेम के परिमाण में कमी होना। कैसे विश्ववादी एक मनुष्य रहते हुए देख सकता है विश्व की समस्त वस्तुओं को सम दृष्टि से ? क्या विश्ववादी में मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के अंश का अभाव हो जाता है ?

विश्ववादी जो कुछ करे, वह होना चाहिए समस्त विश्व के

लाभ-हेतु—केवल अधिकांश विश्व के लाभ-हेतु नहीं। कैसे है यह संभव ? यह संसार है पाप-पुण्य, भलाई-बुराई का सम्यक् मिश्रण। यह संसार है राग-द्वेष, उपकार-स्वार्थ आदि विरोधी गुणों के द्वंद्व का रणस्थल। इस संसार का प्रत्येक कार्य होता है कुछ को लाभप्रद और कुछ को हानिप्रद। पुण्य-कार्य में पापियों की हानि और पाप-कार्य में पुण्यात्माओं की हानि रहती है सदैव छिपी। एक के लाभ का अर्थ है किसी दूसरे की हानि। तब कैसे संभव है विश्ववादी के लिये ऐसा कार्य करना, जो समस्त प्राणियों को लाभप्रद हो ? क्या विश्व-वादी के कार्य निर्गुण होते हैं ?

तब फिर विश्ववाद है क्या वस्तु ? विश्ववाद है एक अप्राप्य आदर्श। विश्ववाद है सात्त्विक मस्तिष्क की उच्चतम उड़ान। किसी मनुष्य का मनुष्य रहते हुए पूर्ण विश्ववादी—सिर से पैर तक विश्ववादी—होना किसी प्रकार संभव नहीं। पूर्ण विश्ववाद मानवों के कार्यों का संचालक नहीं हो सकता। जीवन में उसका अक्षरशः पालन नहीं किया जा सकता। वह तो है अंतिम लक्ष्य, जो अप्राप्य है, परंतु जिस तक पहुँचने का प्रयत्न करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

सर्वं-स्रष्टा

(यह सुंदर लावण्य, सशक्त विभूति, विषम विरोध और शांत सुख किसकी सृष्टि है ? मानव-महत्त्व का यह निर्माण नहीं। क्षण-भंगुरता का यह परिचय नहीं।)

अपने चारों ओर दृष्टि-निक्षेप करने पर मुझमें एक भावना जाग्रत् होती है। वह है—यह विस्तृत विश्व एक महान् झाँकी के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

प्रातःकाल—स्निग्ध-उषा-लालिमान्वित लाल, पीले, नीले, हरे फूलों का नव्य-श्री-प्लावित देखता हूँ, ओस-बिंदुओं को हरीतिम-राजि पर मोतियों-सा जगमगाते पाता हूँ; मंद-मलय-समीरण का मृदुल स्पर्श अनुभव करता हूँ; इठला-इठलाकर किलोल करती लहरियों की मृदु रागिनी सुनता हूँ, और कह उठता हूँ—कितना सौंदर्य ! कितना लावण्य !

मध्याह्न में—व्यस्त पुरुषों के कार्य-कलाप देखता हूँ। कोई द्रुत-गति भागा जा रहा है। कोई अपनी वस्तु की प्रशंसा करते नहीं अघाता। कोई पल-पल पर लाखों के वारे-न्यारे कर रहा है। कोई उदर-पूर्ति के लिये पसीना बहाने में लगा है, और मैं कह उठता हूँ—कितनी शक्ति ! कितनी विभूति !

संध्या को—सुनता हूँ किसी की प्रशंसा, किसी की निंदा।

कोई चिंता और दुःखों की कहानी कह रहा है, तो कोई हास्य और व्यंग्य से चतुर्दिक् गुँजा रहा है। किसी का मुखड़ा उदास है—गति शिथिल है, तो किसी पर कांति दमदमा रही है—मस्ती और मादकता बरस रही है। और मैं उलझते, करुण भाव से सोचता हूँ—कितना वैषम्य! कितना विरोध!

कभी-कभी रात में आँखें खुल पड़ती हैं, तो देखता हूँ—नील गगन में चंद्रमा तारिकाओं से क्रीड़ा कर रहा है, मीठा-मीठा शीत उमड़ रहा है, समस्त विश्व निद्रा की शांत, निश्चिंत, शीतल गोद में पड़ा है, और मन में भाव उठता है, कितनी शांति! कितना सुख!

सोचता हूँ—यह सुंदर लावण्य, सशक्त विभूति, विषम विरोध और शांत सुख किसकी सृष्टि है? मानव-महत्त्व का यह निर्माण नहीं, क्षण-भंगुरता का यह परिचय नहीं। यह अमर है, अपरिवर्तनीय है!

ऐसे ही समय मेरी नास्तिकता आस्तिक बन जाती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि मनुष्य जिसका निर्माण किया हुआ सजीव पुतला है, उस मानव-इतर शक्ति का अस्तित्व अग्राह्य नहीं।

भिखारी

(बहुत ढूँढ़ता हूँ, पर मुझे अपने में और भिखारी में कोई अंतर नहीं मिलता ।)

कोई भूखों मरते हैं—एक-एक पैसे के सतुवे के लिये तरसते हैं, और माँगने पर भी नहीं पाते, और किन्हीं का मिठाइयों के मारे नाकों दम है। अनेकों निमंत्रण मिलते हैं, और वे जाने से कन्नी काटते हैं।

यह बूढ़ा नोन मिले सतुवे को घोलकर किस प्रेम से खा रहा है, और खाते-खाते, एक-एक कौर पर, असीस देते-देते नहीं थकता। और—एक मैं हूँ। दो-दो स्थानों के निमंत्रण हैं, और मैं कहीं भी नहीं जाना चाहता।

फिर भी मुझे जाना ही पड़ेगा, भले ही अनमना हो जाऊँ; और कुछ-न-कुछ खाना ही पड़ेगा, भले ही अरुचि से ही खाऊँ; और इस बूढ़े को! न-मालूम कितने स्थानों से दुत्कार मिली होगी—गिड़गिड़ाकर माँगने पर भी गालियाँ सुननी पड़ी होंगी।

बहुत ढूँढ़ता हूँ, पर मुझे अपने में और उसमें कोई अंतर नहीं मिलता।

तब ऐसा वैषम्य क्यों? किसलिये?

एक बड़ा अभाव !

(ग़रीब की रुचि लक्ष्मी-पात्रों के लिये फ़ालतू समय का व्यसन ।)

एक बड़ा अभाव !—

जिनकी सार्वजनिक कामों की ओर रुचि है, उन्हें पेट की चिंता के पीछे बहुधा उसे छोड़ देना पड़ता है, यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र में वे ठोस कार्य कर सकते और वैसे पेट भर लेने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते ।

दूसरी ओर—

जो सार्वजनिक सेवा को महत्त्व नहीं देते, परंतु लक्ष्मी-पात्र होने से इसे भी अपने फालतू समय का एक व्यसन समझते हैं, ऐसों की पर्याप्त संख्या इस क्षेत्र में है, जो नेता बन जाने के अतिरिक्त कोई वास्तविक उपयोगी कार्य नहीं कर पाते ।

अधिकार

(आदमी ही आदमी को पशुवत् रहने के लिये बाध्य करता है ।)

चतुर्दिक् देखता हूँ, और सोचता हूँ—

मुझे क्या अधिकार है, मेरी क्या विशेषता है ।

कि मैं वे सुविधाएँ भोगूँ, जो मेरे ही सदृश अन्य भाइयों को प्राप्य नहीं ।

पर वे तो सुविधाएँ नहीं हैं, जीवन की आवश्यकताएँ हैं, जिनसे अधिकांश जबर्दस्ती वंचित कर दिए गए हैं ।

आदमी ही आदमी को पशुवत् रहने के लिये बाध्य करता है ।

यह इस जाग्रत् युग का सबसे बड़ा कलंक है, जिसे दूर करना ही होगा ।

पहले था, इसलिये अब भी ऐसा ही रहे—यह अक्षम्य है ।

शैशव के अनुचित खिलवाड़ यौवन में अपराध हैं ।

दुनिया का शैशव बीत चुका है । यौवन आ चुका है ।

उसे अपने शैशव के अर्थ-हीन, प्रपीड़क खिलवाड़ छोड़ने पड़ेंगे ।

ये हरे-हरे पोखर ! ये हरे-हरे मैदान !

(जो सबके लिये थे, कुछ की संपत्ति बने, और बहुतों के लिये उनकी ओर निगाह उठाना भी गुनाह क़रार दिया गया ।)

अभी-अभी रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो चुकी है ।

ये हरे-हरे पोखर, ये हरे-हरे मैदान और ये हरे-हरे पेड़—कितने शांत ! कितने शीतल ! कितने मुदमय !

यह भगवान् की देन थी—मानव के लिये, एक-से उपभोग के लिये ।

भगवान ने इन्हें दिया था, जिससे उसके प्यारों का हर्ष बढ़े—शांत और शीतल ।

इसीलिये उसने इन्हें मुक्त रक्खा—बंधन-हीन, सर्वथा स्वतंत्र; पूर्णतः समदर्शी ।

पर मानव ने इनका दुरुपयोग किया । कुछ ने अनेक का सुख हड़प लिया । मैदानों को घेरा गया; पेड़ों को गिना गया, और उन पर अधिकार की छाप लगाई गई ।

वे ही पोखर, वे ही मैदान, वे ही पेड़—जो सबके लिये थे, कुछ की संपत्ति बने, और बहुतों के लिये उनकी ओर निगाह उठाना भी गुनाह क़रार दिया गया ।

और जिन कुछ की ये संपत्ति बने, उन्होंने इन्हें अपने

मनोविनोद का साधन बनाया या अपनी आमदनी का रास्ता। जो चीज़ सबके लिये मुफ़्त सुलभ थी, उसकी क़ीमत आँकी गई।

परिणाम में—कुछ के लिये बाहुल्य हुआ, बहुतों के लिये अभाव और सबके लिये कृत्रिम, असंतुष्ट जीवन।

ये हरे-हरे पोखर ! ये हरे-हरे मैदान ! ये हरे-हरे पेड़ !—

आह री मानवीय लिप्सा ! तूने इन्हें भी शांत, शीतल और सुखमय न रहने दिया।

सबके लिये

(गिड़गिड़ाओ नहीं । अपना हक़ पहचानो । जो दबे बैठे हैं, उनसे माँगो, ले लो !)

ज्यों-ज्यों ग़रीबी-अमीरी देखता हूँ, इनकी विषमता अधिकाधिक प्रभावित करती है ।

सुंदर, सुशील, सुयोग्य ग़रीब पिसते हैं—पीसे जाते हैं—कुछ ऐसे आदमियों के लिये, जिनकी एकमात्र विशेषता है उनकी वे तिजोरियाँ, जिनमें सैकड़ों-हज़ारों मानव-कुटुंबों के जीवन की आवश्यकताएँ प्रस्तुत कर देनेवाली वस्तु बंद रहती है—विलसित वैभव की उच्छृंखलताएँ पूरी करने के लिये ।

जिसके लिये पैसे रुपए हैं और रुपए न्यामत, उनसे वे छीने जाते हैं—उन्हें शिकंजे में कसकर—गन्ने की तरह पेर-कर—उनका जीवन बर्बाद करते हुए, उन्हें आठ-आठ आँसू रुलाते हुए ।

मोटर, सिनेमा और ऐयाशी में मनमाना, बेतहाशा ख़र्च करने के लिये ।

उनके द्वारा, जो अपने ही लिये दुनिया के सारे सुख और आराम समझे बैठे हैं, और अपनी थाली के कुछ टुकड़े चाटु-कारों तथा रोने-कलपनेवालों के सामने फेंक देते हैं, तो

समझते हैं—महान् कार्य किया, और उसके लिये उनकी प्रशंसा के ढोल पीटे जाने चाहिए।

वे स्वयं नहीं समझेंगे कि वे ये टुकड़े उन्हीं को फेंक रहे हैं, जिनका हक़ वे हड़पे बैठे हैं।

क्योंकि जिनके ये हक़ हैं, वे भूले हुए हैं, और निराश्रित-से गिड़गिड़ा रहे हैं।

पर ऐ गुमराहो! गिड़गिड़ाने से कुछ न होगा। दुनिया कमजोरों के लिये नरक है।

उठो! अपनी शक्ति पहचानो! तुम तो शक्ति के अग्नि-पुंज हो।

गिड़गिड़ाओ नहीं। अपना हक़ पहचानो, जो हड़पे बैठे हैं, उनसे माँगो—ले लो।

अमीरों को ग़रीब बनाने की आवश्यकता नहीं, पर उनसे स्पष्ट कह दो कि उन्हें ग़रीबों को अमीर बनाना पड़ेगा—उनके हक़ उन्हें देकर, जिसका अर्थ है—ग़रीबों को अपना समकक्ष बनाकर; उनसे सहकर्मियों-सदृश व्यवहार कर।

उनसे कह दो—दुनिया का लड़कपन बीत गया। अब यह विषम खिलवाड़ और न चलेगा। दुनिया की जवानी क्रंदन और ग़रीबी में नहीं बीतेगी। बीतेगी—मस्ती और उमंग में—सबके लिये, कुछ के लिये नहीं।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	३	गरदन नापते	गरदन न नापते
१३	७	पक्का न था	पक्का नथा
१७	५	यरा	दायरा
१९	११	पहाड़ियों	पटड़ियों
२४	११	वहीं	कहीं
२६	१४	जो	जी
३६	७	नहीं	कहीं
४३	१६	की	का
४५	७	का	या
५०	५	बटा	कटा
५४	२०	दी	ही
६४	६	में	से
६४	१३	वज्र	ध्वज